

मार्क्स

वादी

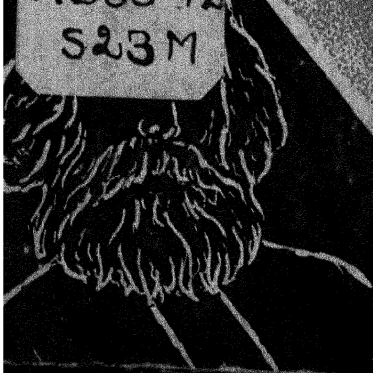
अर्थ

शास्त्र

Hande Sen
OSMANIA
No. 20

186244

H335.42
S23M



UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186244

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 335.42** Accession No. **P. G. H 820**
523M
Author **सान्याल , शूषेन्द्रनाथ .**
Title **माक्सवादी अर्थशास्त्र .**

This book should be returned on or before the date
last marked below.

माक्सवादी अर्थशास्त्र

लेखक

भूपेन्द्रनाथ सान्याल

(मेम्बर आल इंडिया कांग्रेस कमेटी, भूतपूर्व काकोरी
षड़यन्त्र केस के बन्दी, उपसभापति प्रान्तीय ट्रेड
युनियन कांग्रेस, सभापति प्रान्तीय नौजवान भारत
सभा, तथा माक्स का दर्शन आदि ग्रन्थों के रचयिता)

प्रकाशक
के० के० मित्रा
इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग

मूल्य दो रुपया

पं० भृगुराज भागेव
भार्गव-प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ

भूमिका

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र साधारण अर्थशास्त्र से भिन्न है। साधारण अर्थशास्त्र जिसको अंग्रेज़ी में पोलिटिकल इकॉनमी कहते हैं पूँजीवाद के युग का अर्थशास्त्र है। इन दोनों का मुख्य विभेद यह है कि पूँजीवादी अपने ग्रंथों में वर्णित नियमों को चिरंतन नियम मानते हैं और मार्क्स का यह कहना है कि ये नियम एक विशेष युग के, पूँजीवादी युग के नियम हैं। समाज के विकास के साथ उसका आर्थिक ढाँचा बदलता रहता है। जैसे समाज गतिशील है उसी तरह आर्थिक ढाँचा भी गतिशील है।

मूल ढाँचा कायम रहने पर, भी उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन होता ही रहता है। स्वयं पूँजीवाद में ही कितने ही परिवर्तन होते आये हैं। पहले उत्पादन-प्रक्रिया में प्रतियोगिता थी; फिर एकाधिकार की सृष्टि हुई; एकाधिकार की ही आखिरी सीढ़ी है साम्राज्यवाद; और पूँजीवाद की अवनति के युग में आया फ़ासिज़्म। इसीलिए मार्क्स के अर्थशास्त्र का विषय ही है “पूँजी की गति के नियम।” अप्रतिरोध प्रतियोगिता से राष्ट्रों को संरक्षण नीति का क्यों अवलम्बन करना पड़ा, राष्ट्र को व्यक्तिगत उद्योग-धन्धों में क्यों हस्तक्षेप करना पड़ा, इत्यादि प्रश्नों का सही सही उत्तर इसी नियम से मिलता है।

इसके अलावा इन दोनों का मूल विभेद है इनके अलग अलग दृष्टिकोणों में। पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण है उपभोग करनेवालों का और मार्क्सवादी दृष्टिकोण है श्रमिकों का। किसी वस्तु के अर्थ की परिभाषा को ले लीजिये। पूँजीवादी विद्वानों के अनुसार अर्थ (Value) निर्धारित होता है सीमान्त उपयोगिता (Marginal theory of utility) द्वारा। एक उदाहरण ले लीजिये। किसी मनुष्य को सेब खाने की तीव्र इच्छा है। लेकिन दो चार सेब खाने के बाद उसकी इच्छा घट जाती है। फिर एक आखिरी सेब वह जो खाता है उससे उमरी इच्छा की पूर्ण वृत्ति हो जाती है जिसके बाद सेब खाने की उसकी इच्छा रहती ही नहीं। इस सीमान्त रेखा के सेब से ही सेब का अर्थ निर्धारित होता है। लेकिन मार्क्स की परिभाषा सम्पूर्ण भिन्न है। 'अर्थ' संचित श्रम-समय (Congealed labour-time) का ही दूसरा नाम है। अर्थात् उस वस्तु के निर्माण में जितना श्रम लगा अर्थ उसी का कुल जोड़ है। पूँजीवादी अर्थशास्त्र के मूल लेखक ऐडम स्मिथ और रिकार्डो की परिभाषा मार्क्स की परिभाषा के अनुरूप ही है, लेकिन इस परिभाषा का मार्क्स ने जो परिणाम निकाला वह पूँजीवादियों को मान्य नहीं था। इसी कारण पूँजीवादियों के स्वार्थ की रक्षा के लिए आस्ट्रियन अर्थशास्त्री बोयम बावर्क को सीमान्त-उपयोगिता के सिद्धान्त को खोज निकालना पड़ा।

मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों का आधार है दुनिया का आर्थिक इतिहास। इसी आधार पर मार्क्स ने यह प्रमाणित किया कि पूँजीवादी व्यवस्था का नाश होकर समाजवादी समाज की स्थापना अवश्यम्भावी है। लेकिन पूँजीवादी पण्डितों ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि पूँजीवादी व्यवस्था एक प्राकृतिक व्यवस्था है जिसमें मनुष्य कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। एक गतिशील

है दूसरा स्थितिशील । पहला क्रान्तिकारी है, दूसरा संरक्षणशील ।

मार्क्स ने समाजवादी समाज के आर्थिक ढाँचा का कोई वर्णन नहीं किया है । लेकिन पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों के निराकरण से ही समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हो सकती है । इसलिए उस व्यवस्था के कुछ आर्थिक सिद्धान्तों का विवेचन हो जाता है । इससे अधिक और कुछ न कहना मार्क्स के लिए स्वाभाविक ही था क्योंकि समाजवादी समाज उस समय भविष्य के गर्भ में ही था । लेकिन आज रूस की योजनाओं से इस नवीन आर्थिक ढाँचे की कुछ झलक आ जाती है । इस नवीन ढाँचे का मूल मन्त्र है, उत्पादन—समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न कि व्यक्तियों के मुनाफ़ा के लिए । इससे उत्पादन-क्षेत्र में पूँजीवादी व्यवस्था की भाँति कोई अराजकता नहीं रहती और उत्पादन-शक्ति की वृद्धि में कोई बाधा नहीं रहती ।

—लेखक

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
	अर्थशास्त्र क्या है	१
१—	श्रम और वस्तुओं का उत्पादन	२
२—	अर्थ का रूप और मुद्रा	११
३—	अतिरिक्त अर्थ	१७
४—	मज़दूरी	२८
५—	मुनाफ़ा और उत्पादन का मूल्य	३४
६—	व्यापारी पूँजी तथा व्यापारी का मुनाफ़ा	४६
७—	लेनदेन की पूँजी और कर्ज़	५८
८—	कर्ज़ और बंक	६४
९—	कर्ज़ नोट और काग़ज़ के रुपये	७०
१०—	ज़मीन पर लगान	८०
११—	पूँजी पूर्व युग में लगान के रूप तथा छोटे किसानों के लगान का प्रश्न	८६
१२—	पूँजी का एकीकरण और पूँजीवादी सम्बन्धों का पुनरुत्पादन	१०३
१३—	साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का पतन	१३७
१४—	क्रासिज़्म	१५७

अर्थशास्त्र क्या है ?

सामाजिक जीवन निर्वाह के सिलसिले में मनुष्यों में जो सम्बन्ध स्थापित हो जाता है उन सम्बन्धों के अध्ययन के लिये रचित समाज-विज्ञान का नाम अर्थशास्त्र है। मनुष्यों में सम्बन्ध बहुत प्रकार के होते हैं लेकिन अर्थशास्त्र केवल उन्हीं सम्बन्धों का विचार करता है जो सामाजिक श्रम से उत्पन्न पैदावार के उत्पादन और बटवारा के कारण कायम होता है। इन सम्बन्धों को उत्पादन सम्बन्ध भी कहते हैं। इन सम्बन्धों में भी अर्थशास्त्र विशेष रूप से पूँजीवाद के अन्तर्गत ही सामाजिक सम्बन्धों का विचार करता है। ऐसे समाज में कोई व्यवस्थित उत्पादन प्रणाली नहीं होती है। यहाँ उत्पादन प्रक्रिया नेत्रविहीन है। इस पूँजीवादी समाज के अव्यवस्थित सम्बन्धों के भी कुछ नियम अवश्य ही हैं। परन्तु ये नियम जैसे अन्धों की क्रियाएँ हैं जिनको नियन्त्रित करने के लिए आर्थिक क्रिया में हिस्सा लेनेवाले अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का प्रयोग नहीं करते।

पहला अध्याय

श्रम और वस्तुओं का उत्पादन

अर्घ्य का मूल श्रम

मार्क्स का अर्थशास्त्र इस बात को लेकर आरम्भ होता है कि बिना श्रम के मनुष्य-जीवन असम्भव है। चाहे मनुष्य-समाज का संगठन कैसा ही हो। प्रकृति ने ही श्रम को मनुष्य-जीवन का एक आवश्यक शर्त बनाया है। इसी श्रम से वस्तुओं का निर्माण होता है और वस्तुओं का संग्रह ही पूँजीवादी समाज का सम्पद है। पूँजीवादी अर्थशास्त्र की सारी बुनियाद है वस्तु।

वस्तु वह चीज़ है जो अपने गुणों के कारण मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। न केवल वस्तु ज़रूरतों को ही रफ़ा करता है बल्कि यह विनिमय के द्वारा एक व्यक्ति के हाथों से दूसरे व्यक्ति के हाथों में पहुँचती है जिसके व्यवहार के लिये

वह काम में लाई जा सकती है। इसलिए वस्तु वह चीज़ है जो उपयोगी हो और जिसका विनिमय हो सके।

किसी काल में सामाजिक ढाँचा को समझने के लिये यह जानना चाहिए कि समाज में श्रम का संगठन किस प्रकार की है यानी उनकी उत्पादन क्रिया किस प्रकार की है। समाज का प्रथमावस्था में हर व्यक्ति उत्पादक होता है। उत्पादन का केन्द्र भी हर व्यक्ति स्वयं ही होता है। उत्पन्न माल को वह बाज़ार में पहुँचाता है और जिस माल की उसे खुद ज़रूरत है उसके मालिक से अपने माल का विनिमय करता है। इस उत्पादन और विनिमय का कोई व्यवस्थित रूप नहीं होता।

अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य की श्रम-शक्ति का प्रयोग किन वस्तुओं के निर्माण में किया जायगा, यह कैसे निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में किसी आर्थिक ढाँचे का निराकरण कौन सी चीज़ करती है? हमने यह समझ लिया कि समाज की प्रथमावस्था में उत्पादक अपने श्रम के फल को बाज़ार में विनिमय के लिये उपस्थित करता है। यदि बहुत से लोग उसी वस्तु के पैदावार में लग जायें तो बाज़ार में पैदावार की मात्रा बढ़ जाती है। उस वस्तु की मांग उतनी ही रहने के कारण उसका मूल्य अपनी साधारण सतह से नीचे गिर जायगा। स्वभावतः उसके पैदावार की प्रक्रिया से कुछ लोग अलग हो जायेंगे और किसी दूसरे वस्तु को पैदा करने में लग जायेंगे जिससे अधिक मूल्य की प्राप्ति हो। पहले वस्तु की मात्रा घट जाने के कारण उसका मूल्य फिर अपनी सतह पर आ जायगा। इस प्रकार मूल्य ही सामाजिक श्रम का बटवारा करता है और सामाजिक श्रम-शक्ति को विभिन्न वस्तुओं के पैदावार में नियोजित करता है।

वस्तुओं के विनिमय के सिलसिले में उत्पादनकारियों के बीच एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है परन्तु समाज की प्रथमा-

वस्था में ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसा कि यह सम्बन्ध उत्पादक व्यक्तियों के बीच न होकर उत्पन्न वस्तुओं के बीच है।

सारे समाज की एक श्रम-शक्ति होती है। यह समाज के अन्तर्गत सारे व्यक्तियों की मानसिक और शारीरिक शक्तियों का जोड़ है। मार्क्स ने इस समूची शक्ति को संचित अमूर्त श्रम का नाम दिया है। इस अमूर्त श्रम के प्रयोग से ही कोई विशिष्ट वस्तु बनता है, जैसे बुनना, कातना, जूते बनाना इत्यादि। तब इस श्रम को विशिष्ट श्रम कहेंगे।

वस्तु शब्द की परिभाषा में ही दो अर्थ निहित हैं—एक यह कि प्रत्यक्ष या अपरोक्ष रूप से यह मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है; दूसरा यह कि इसका निर्माण बाज़ार में विनिमय के लिए किया जाता है। यानी यह उत्पादक के निजी खर्च के लिए नहीं पैदा किया जाता है बल्कि किसी और के लिये जिसको इस चीज़ की ज़रूरत है। हर काम की चीज़ गुण की दृष्टि से कुछ गुणों का जमाव है। इस कारण यह विभिन्न प्रकार के कामों में लाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में वस्तु का एक व्यवहार अर्थ है और चूंकि व्यवहार-अर्थ उसकी प्रयोजनीयता पर निर्भर है और इसको उस वस्तु से अलाहिदा नहीं किया जा सकता है। वस्तु व्यवहार-अर्थ ही बन जाता है। श्रम के परिमाण से व्यवहार-अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए किसी वस्त्र के बनाने में चाहे एक घंटा लगा हो चाहे दश उसकी प्रयोजनीयता उतनी ही रहती है—यानी शरीर ढाकने की ज़रूरत को यह रफ़ा करता है।

जिस परिमाण के अनुपात में एक व्यवहार-अर्थ का दूसरे व्यवहार-अर्थ से विनिमय होता है उसको विनिमय अर्थ कहते हैं। यह अनुपात परिवर्तनशील है। समय और स्थान पर यह निर्भर है। २० गज़ कपड़ा बनाने में आज किसी देश में जितना श्रम

कारण उससे कम समय लग सकता है। इसलिए यह अनुपात समय और स्थान के साथ बदलता रहता है।

अब मान लीजिए कि एक मन गेहूँ का विनिमय 'क' परिमाण रेशम और 'ख' परिमाण सोने से किया जा सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि 'क' परिमाण रेशम और 'ख' परिमाण सोने का एक दूसरे से विनिमय हो सकता है क्योंकि ये दोनों ही एक ही परिमाण गेहूँ के समान हैं। इस उदाहरण से एक बात स्पष्ट है। वह यह कि जिन दो वस्तुओं में आपस में विनिमय होता है उन दोनों वस्तुओं में कोई ऐसी बात होगी जो दोनों में वर्तमान हो परन्तु दोनों से भिन्न हो। यह बात उन वस्तुओं का कोई गुण नहीं हो सकता क्योंकि उन वस्तुओं के प्राकृतिक गुण बिलकुल अलग-अलग हैं। जो बात दोनों में है वह यह कि दोनों श्रम के उपज हैं। इस दृष्टि-कोण से मेज़, मकान या मोज़ा इनका एक ही रूप है—अमूर्त श्रम का रूप। उपरोक्त वस्तुओं में केवल इस अमूर्त श्रम के विभिन्न परिमाण हैं।

विनिमय अर्घ्य ही किसी वस्तु का असली अर्घ्य है। इस अर्घ्य का कारण है अमूर्त मनुष्य-श्रम जो उस वस्तु में रूप ग्रहण करता है। इस अर्घ्य का परिमाण मापने के लिए हमें यह जानने की आवश्यकता है कि उस वस्तु में श्रम का परिमाण कितना है। इस श्रम का परिमाण हम समय से ही कर सकते हैं। श्रम-समय से ही किसी वस्तु के अर्घ्य का परिमाण किया जाता है। अर्थात् किसी वस्तु के निर्माण में जितने घंटों या दिनों का श्रम लगाया गया है वही उस वस्तु का अर्घ्य है।

ऊपर कही गई बातों से यह खयाल किया जा सकता है कि उत्पादक जितना अनाड़ी होगा या आलसी होगा उतना ही उसके द्वारा उत्पन्न वस्तु का अर्घ्य अधिक होगा। परन्तु यह बात

नहीं है। किसी भी समय किसी विशेष समाज में एक आसत आदमी जितना श्रम-समय किसी वस्तु के निर्माण में लगायेगा वही उस वस्तु का अर्थ है। दूसरे शब्दों में यह श्रम-समय सामाजिक अवस्था और आवश्यकता के अनुसार होना चाहिए। जैसे मशीन के आविष्कार से किसी वस्तु के निर्माण का समय यदि घट जाय तो उसी समय से उस वस्तु के अर्थ का परिमाण किया जाना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि जब तक इस श्रम-समय का परिमाण घटता बढ़ता नहीं है तब तक किसी वस्तु के अर्थ में परिवर्तन नहीं होता। श्रम की उत्पादन शक्ति को हास वृद्धि के साथ अर्थ की हास वृद्धि होती रहती है। उत्पादन शक्ति बढ़ने से अर्थ घटता है और उत्पादन शक्ति घटने से अर्थ बढ़ता है। गणित की भाषा में किसी वस्तु का अर्थ उसमें निहित श्रम के परिमाण के अनुपात में है और इस श्रम की उत्पादन शक्ति के विपरीत अनुपात में है।

यदि कोई विशिष्ट उत्पादक अपने व्यवहार के लिये किसी नई मशीन का आविष्कार करता है तो उससे सामाजिक आवश्यक श्रम में कोई अन्तर नहीं पड़ता। लेकिन चूंकि एक वस्तु के उत्पादन में उसका अपना श्रम सामाजिक आवश्यक श्रम से कम व्यय होता है और उस वस्तु का बाज़ार-भाव उसके श्रम पर नहीं, बल्कि सामाजिक श्रम-समय पर निर्भर है, उस विशिष्ट उत्पादक को अधिक मुनाफ़ा मिलता है और इसी से नई मशीन आदि के आविष्कार में प्रोत्साहन मिलता है। नई मशीनों आदि के आविष्कार से ही सामाजिक श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ती है और वस्तुओं का अर्थ घटने लगता है।

अलुमिनियम का खर्च आज आठ हजार गुना बढ़ गया है और इसके मूल्य में कमी का मांग और पूर्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है बल्कि इसकी मांग इसीलिये बढ़ गई है कि यह सस्ता

हो गया है और सस्ता होने का कारण यह है कि उसका अर्ध घट गया है या दूसरे शब्दों में इसके उत्पादन के लिये कम आवश्यक श्रम की ज़रूरत है ।

एक और प्रश्न का यहाँ समाधान करना है । क्या एक घन्टा का मामूली शारीरिक श्रम एक इन्जिनियर या लेखक के एक घन्टा श्रम के बराबर है ? श्रम के एकक के लिये हम एक घन्टा का सादा श्रम ही लेते हैं जिसके लिये किसी विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं है । जिस श्रम में हुनर की आवश्यकता है वह अधिक कीमती है । उस हुनर के सीखने में जितना अधिक समय लगे वह उतनी ही कीमती है । हुनरमन्दों के श्रम-समय को साधारण श्रम-समय में आँका जा सकता है । लेकिन आज के समाज में इसकी सटीक गणना सम्भव नहीं ।

यदि कोई श्रम-समय के इस नियम को किसी कलाकार की कृति के ऊपर लागू करना चाहे और उसका अर्ध निकालना चाहे तो यह सम्भव नहीं । इस प्रकार को कृतियाँ अनोखे वस्तु हैं और साधारण वस्तुओं से इनकी तुलना नहीं की जा सकती । इसका एक कारण यह भी है कि इन कृतियों का पुनरुत्पादन नहीं हो सकता । ऐसे वस्तुओं का मूल्य जिनका पुनरुत्पादन नहीं हो सकता अर्ध के नियम से आँका नहीं जा सकता ।

ऐसा हो सकता है कि किसी चीज़ का व्यवहार अर्ध हो परन्तु कोई अर्ध न हो । उदाहरण के लिये खुली हवा, नई ज़मीन, जंगल, उद्गमस्थान, पर जल इत्यादि । एक और बात यहाँ समझ लेने की है । उन्हीं दो वस्तुओं का विनिमय हो सकता है जिनका व्यवहार-अर्ध एक दूसरे से भिन्न है । जैसे एक दुशाला से दूसरे दुशाला का विनिमय नहीं हो सकता लेकिन गेहूँ या मोने से हो सकता है । इस प्रकार विनिमय के मूल में दो या अधिक व्यवहार अर्धों की भिन्नता ।

अब यह समझने की ज़रूरत है कि किस वस्तु का मूल्य क्या है ? यह मूल्य कैसे निर्धारित किया जाता है । दो वस्तुओं के मूल्यों में अन्तर इसलिये नहीं होता कि एक अधिक आवश्यक है और दूसरा कम और न इसलिये कि एक अधिक टिकाऊ है और दूसरा कम । एक उदाहरण ले लीजिये रोटी और हीरे का । किसी एक मनुष्य के लिये किसी वस्तु की ज़रूरत की मात्रा कितनी है । इसका कोई सटीक अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता है । यदि यह कहा जाय कि किसी वस्तु की कितनी मांग है और कितनी उसकी पूर्ति है, इसी के ऊपर उस वस्तु का मूल्य निर्भर है तो यह भी सही नहीं होगा । यदि ऐसा होता तो जिन दो वस्तुओं की मांग और पूर्ति समान परिमाण में होता उन दोनों वस्तुओं का बाज़ार भाव भी एक ही होता । उदाहरण के लिये ले लीजिये चीनी और सिलाई की मशीन । मांग और पूर्ति का नियम केवल एक सीमित रूप से बाज़ार दर के उतार चढ़ाव का अर्थ बतला सकता है । मांग के बढ़ने के कारण अथवा पूर्ति की कमी के कारण या और किसी कारण से मूल्य अत्यधिक बढ़ जाने पर मांग घट जाती है । इसके विपरीत उदाहरण से भी यह सिद्ध होता है । यदि बाज़ार में किसी चीज़ के अत्यधिक तादाद में होने के कारण उसका भाव गिर जाता है तो उस चीज़ के पैदावार में कोई मुनाफ़ा नहीं मिल सकता और उसका पैदावार बन्द हो जाता है । पैदावार घटने के कारण मूल्य फिर बढ़ने लगता है । इस प्रकार मूल्य ही मांग और पूर्ति पर असर डालता है न कि इसका उल्टा ।

तो क्या पैदावार के लागत दाम से मूल्य निर्धारित होता है ? इसके माने तो केवल इतना ही हुआ कि जिन विभिन्न चीज़ों से कोई वस्तु बना हो उन विभिन्न चीज़ों के दाम को जोड़कर उस वस्तु का मूल्य बता दिया जाय । इससे प्रश्न का समाधान नहीं

हुआ। एक अज्ञात परिमाण की परिभाषा हम दूसरे अज्ञात परिमाणों से करना चाहते हैं। आखिर तक हमें सब वस्तुओं के लागत दाम के लिये हमें वहीं पहुँचना पड़ता है कि वस्तु के निर्माण में श्रम का व्यय कितना हुआ। क्योंकि हम अपनी खोज के सिलसिले में उस जगह पहुँचते हैं जहाँ श्रम के व्यय के सिवा केवल वही चीज़ें रह जाती हैं जो प्रकृतिदत्त हैं यानी वे प्राकृतिक चीज़ें जिन पर कोई श्रम का व्यय नहीं किया गया हो।

श्रम की प्रक्रिया में मनुष्यों को एक दूसरे पर निर्भर होना पड़ता है और इसलिये उनमें उत्पादन का एक सम्बन्ध बन जाता है। इस प्रकार व्यक्ति का श्रम सारे समाज के श्रम का एक हिस्सा बन जाता है। उत्पादन का सम्बन्ध इस बात को अवश्यम्भावी बना देता है कि समाज में श्रम का विभाजन इस प्रकार हो कि समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। बाज़ार में किस अनुपात में वस्तुओं का विनिमय होता है, यही निर्धारित करता है कि किसी विनिमयात्मक आर्थिक ढाँचे में श्रम का विभाजन किस प्रकार हो। वस्तुओं का विनिमय मनुष्यों के बीच उत्पादन सम्बन्ध को नियमित करने का एक विशेष उपाय है और यह इस प्रकार से नियमित होता रहता है कि अर्थ के आस पास मूल्य का उतार चढ़ाव होता है।

यह सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि हमेशा एक तरह कायम रहे लेकिन अर्थ ही इसका निर्णायक है।

अव्यवस्थित समाज ङ्गठन के कारण ही अर्थ को विनिमयात्मक आर्थिक ढाँचे के निर्णायक के रूप में काम करना पड़ता है। विनिमय ढाँचे के कारण जिन अवस्थाओं की उत्पत्ति होती है उनसे मनुष्यों के बीच एक विशिष्ट सम्बन्ध कायम हो जाता है और अर्थ की जड़ इसी सम्बन्ध में है। जब हम अपने

सम्बन्धों को इच्छानुसार नियन्त्रित कर सकेंगे तो अर्थ का कोई काम ही नहीं रह जायगा ।

इस दृष्टिकोण से अर्थ और व्यवहार अर्थ में बहुत अन्तर है । मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्ध में कैसा भी परिवर्तन हो वस्तुओं के व्यवहार-अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता ।

दूसरा अध्याय

अर्घ्य का रूप और मुद्रा

विनिमयात्मक आर्थिक ढाँचे के अन्दर किसी वस्तु के अर्घ्य को सीधे सीधे श्रम के धन्टों की तादाद में आँका नहीं जा सकता। वे वस्तु जिनका बाज़ार में विनिमय होता है वे ही मनुष्यों के बीच उत्पादन सम्बन्ध का प्रतीक बन जाते हैं। इसके बिना श्रम का फल केवल व्यवहार-अर्घ्य हो सकता है इसका कोई विनिमय-अर्घ्य नहीं होगा। कोई भी वस्तु अपना अर्घ्य नहीं आँक सकता जब तक वह किसी दूसरे वस्तु के सम्पर्क में नहीं आये। एक वस्तु का अर्घ्य दूसरे वस्तु के विशिष्ट तादाद में ही रूप ग्रहण करता है। ऐसा इसलिये है कि (१) आवश्यक सामाजिक श्रम-समय का परिमाण कई चीजों पर निर्भर है जैसे किसी उत्पन्न वस्तु की कुल तादाद, जितने व्यक्ति उस वस्तु के उत्पादन में लगे हुए हैं उन कुल व्यक्तियों के श्रम-

समय का जोड़ इत्यादि । (२) किसी वस्तु के उत्पादन में अलग अलग व्यक्तियों का हिस्सा जोड़ना मुश्किल है । (३) विनिमयात्मक आर्थिक ढाँचे की कोई संगठित व्यवस्था न होने के कारण उत्पादन-सम्बन्ध नियन्त्रित नहीं हो पाता और किसी वस्तु पर श्रम के व्यय के परिमाण का अन्दाज़ा नहीं हो सकता ।

एक वस्तु के अर्थ को जब दूसरे वस्तु द्वारा बतलाया जाता है तो उसको “अर्थ का रूप” कहते हैं । जो वस्तु दूसरे वस्तु में अपना समरूप खोजता है वह अर्थ का आपेक्षिक रूप है । जिस वस्तु में वह अपना रूप खोजता है वह ‘समरूप’ है । इन दो वस्तुओं को एक समानता का रूप दिया जा सकता है—२० गज कपड़ा=१ कोट । इन वस्तुओं के व्यवहार अर्थ भिन्न हैं । यह विनिमय की एक आवश्यक शर्त है जिससे यह स्पष्ट है कि इन वस्तुओं में निहित विशिष्ट श्रम भी भिन्न हैं । इस प्रकार ये दोनों वस्तु जो अर्थ के रूप हैं भिन्न भी हैं और समान रूप भी हैं । यदि भिन्नता न होती तो उनका अध्येरूप होना असम्भव होता । यदि समानता न होती तो उनका मुकाबला सम्भव न होता । इस समानता की मूलीभूत बात यह है कि दोनों वस्तुओं पर समान मात्रा में सामाजिक आवश्यक श्रम श्रम का प्रयोग किया गया है ।

जब एक वस्तु के अर्थ को दूसरे वस्तु का रूप दिया जाता है तो उसको अर्थ का प्राथमिक रूप कहते हैं । विनिमय की उन्नति और वृद्धि के साथ एक वस्तु केवल दूसरे वस्तु के सम्पर्क में ही नहीं, कई वस्तुओं के सम्पर्क में आता है । जब यह सम्पर्क एक छोड़ कई वस्तुओं में स्थापित होता है तो उनकी समानता को हम इस प्रकार लिख सकते हैं—

$$20 \text{ गज कपड़ा} = \left\{ \begin{array}{l} 1 \text{ कोट} \\ 5 \text{ कमीज़} \\ 1 \text{ बोतल पेट्रोल} \\ 4 \text{ सेर आलू इत्यादि} \end{array} \right.$$

इस प्रकार अर्थ के एक साधारण रूप से हम एक विस्तृत रूप को पहुँचते हैं जिसमें एक वस्तु कई वस्तुओं के अर्थ को रूपान्वित करता है। फिर भी दोनों की बुनियादी बात एक ही है। विस्तृत और साधारण दोनों रूपों में एक बात स्पष्ट होती है विशिष्ट श्रम किस प्रकार अमूर्त श्रम बन जाता है।

बाज़ार के ज़रिये हज़ारों व्यक्तियों का श्रम एक सूत्र में बंध जाता है और उनका श्रम सामाजिक श्रम बन जाता है।

अर्थ के इस विस्तृत रूप से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक श्रम के भिन्न प्रकारों की बुनियाद में एकक है। फिर भी यह एकीकरण नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने अर्थ को बहुत से वस्तुओं के द्वारा प्रगट करते हैं—

जैसे २० गज़ कपड़ा = { एक कोट, दो कमीज़
 दो सेर आलू
 पाव सेर पेट्रोल
 और

एक सेर दूध = { एक दर्जन अण्डा
 एक सेर गोश्त
 दस बक्स दियासलाई

इनमें एकीकरण का अभाव है क्योंकि एक ही वस्तु के अर्थ का रूप अनगिनती वस्तुओं द्वारा प्रकाश पाता है। अर्थ आप से आप स्थिर हो जाता है। जब विनिमय से मुनाफ़ा नहीं होता है तो पैदावार घटा दी जाती है और जब मुनाफ़ा बढ़ने लगता है तो पैदावार भी बढ़ जाती है। अर्थ के इस विस्तृत रूप से यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि दोनों विनिमयों में से किससे अधिक मुनाफ़ा प्राप्त हो सकता है।

इसके लिये ज़रूरत है इस विस्तृत रूप को और भी विस्तृत करना। तब यह अर्थ का 'अविशेष रूप' बन जाता है। इस

रूप में चाहे जो भी वस्तु हो उन सबके अर्घ्य का रूप एक विशिष्ट वस्तु ही होता है ।

जैसे एक कोट	} = २० गज कपड़ा
दो सेर आलू	
एक बोतल मिट्टी का तेल	
एक दर्जन अण्डे	
२० बक्स दियासलाई	

यह पहले के समीकरणों का केवल उलटा नहीं है । इस प्रथा से एक ऐसे वस्तु का आविष्कार हो जाता है जो सार्वभौमिक रूप से सब वस्तुओं के अर्घ्य का समरूप बन जाता है । यह सार्वभौमिक समरूप का स्वयं एक अर्घ्य है लेकिन यह सब वस्तुओं के अर्घ्यों का मानदण्डस्वरूप है ।

आज के समाज में सार्वभौमिक समरूप का काम करता है मुद्रा । वर्तमान काल में विनिमय का माध्यम है मुद्रा । मुद्रा में सोना चाँदी आदि का ही व्यवहार होता है । इसके कुछ कारण ये हैं कि समय बीतने पर भी ये घिसते कम हैं, आसानी से छोटे-छोटे हिस्सों में इनका विभाग किया जा सकता है, थोड़े परिमाण में ही इनका अर्घ्य अधिक है; इनकी पहचान आसानी से की जा सकती है ।

मुद्रा के निज का अर्घ्य है और जहाँ अर्घ्य का प्रचलन है वहीं मुद्रा का भी प्रचलन है । वर्तमान पूँजीवादी समाज में अर्घ्य ही श्रम-संगठन को नियन्त्रित करता है और इसलिये इस समाज में मुद्रा की भी आवश्यकता है । सुव्यवस्थित आर्थिक ढाँचे में न अर्घ्य की आवश्यकता है न मुद्रा की । मुद्रा कोई रहस्यमय वस्तु नहीं है । परन्तु यह रहस्यमय इसलिये प्रतीत होता है कि आज के समाज-संगठन में मनुष्य का प्रभुत्व वस्तुओं पर न होकर वस्तुओं का प्रभुत्व मनुष्य पर है ।

जब किसी वस्तु के अर्घ्य को मुद्रा (रुपये पैसों) में आँकते हैं तो उसको उस वस्तु का मूल्य कहते हैं । किसी वस्तु का मूल्य इस बात पर निर्भर है कि कितना श्रम उस वस्तु में पुंजीकृत है और कितना श्रम मुद्रा में सम्मिलित है । उत्पादक शक्ति की वृद्धि के साथ वस्तुओं के मूल्य में हास होता है और यदि सोना चाँदी आदि का पैदावार सहज हो जाय तो मूल्य में वृद्धि हो जायगी क्योंकि सोना आदि में सामाजिक श्रम आदि का परिमाण घट जायगा ।

जो परिमाण सोना या किसी वस्तु के अर्घ्य के समान है उस परिमाण में तो कोई अन्तर नहीं होता है परन्तु भिन्न देशों में इस परिमाण को मूल्य के विभिन्न रूप दिये जाते हैं क्योंकि मूल्य का एकक भिन्न देशों में भिन्न है । पहले पहल मूल्य का एकक सोना चाँदी आदि के एक विशिष्ट वजन को ही माना जाता था जैसे अंग्रेजी पाउण्ड (आध सेर के करीब) से ज़ाहिर है ।

सोना चाँदी के भाव में कुछ भी परिवर्तन हो मूल्य के मापदण्ड में कोई अन्तर नहीं पड़ता । उदाहरण के लिये चाँदी का भाव कुछ भी हो रुपये के चवन्नी सदा चार ही होंगे । अलग-अलग देशों के अलग-अलग सिक्के होने पर भी उनका सम्बन्ध स्थापित करना मुश्किल नहीं है क्योंकि सोने का अर्घ्य सब देशों में ही समान है ।

आज के दिन वस्तुओं के अर्घ्य को श्रम के घण्टों का रूप न देकर मुद्रा या सिक्का का रूप दिया जाता है । सिक्के के साथ वस्तु का वास्तविक विनिमय न होने पर भी उसका अर्घ्य सिक्कों में आँका जाता है । अर्घ्य का परिमाण और मूल्य के मापदण्ड के अलावा सिक्का वस्तुओं के विनिमय के माध्यम का भी काम करता है ।

मुद्रा के बग़ैर बहुत से वस्तुओं का एक दूसरे के सम्पर्क में आना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही हो जाता । वस्तुओं

के विनिमय में सिक्के के माध्यम को एक चक्र का रूप दिया जा सकता है:—वस्तु—मुद्रा—वस्तु । सिक्के का प्रचलन जितनी तेज़ी के साथ होगा उतने ही कम माध्यम की आवश्यकता होगी । यदि दिन भर में एक सिक्का पाँच सौदों में भाग लेता है और कुल वस्तुओं का अर्घ्य १००० रुपया हो तो बाज़ार में केवल २०० रुपयों की ज़रूरत होगी ।

मूल्य की बुनियादी बात है अर्घ्य का नियम । अर्घ्य को रुपये पैसे में आंकना ही मूल्य है । हमने अभी तक ऐसा ही विचार प्रगट किया है कि मूल्य और अर्घ्य एक ही है । परन्तु वास्तव में यह सम्भव तभी है जब वस्तुओं की मांग और पूर्ति बराबर हो । साधारणतः यह व्यतिक्रम ही है । मूल्य और अर्घ्य के अन्तर से ही मांग और पूर्ति में बराबरी की चेष्टा होती रहती है और किसी वस्तु का उत्पादन घटाया जाता है और किसी का बढ़ाया जाता है । फिर भी अर्घ्य को ही केन्द्र बनाकर मूल्य उसके इर्द-गिर्द घूमा करता है ।

मुद्रा के एवज़ी भी होते हैं; जैसे सिक्के जो अपने असली अर्घ्य से ज़्यादा के द्योतक हैं या कागज़ के नोट जिनका अर्घ्य नहीं के बराबर है । तो इनके लिये अर्घ्य का नियम कैसे लागू होता है । इस प्रश्न का उत्तर यही है कि इनका अर्थ तभी समझा जा सकता है जब हम मान लें कि ये एवज़ी मात्र हैं और जिनके ये एवज़ी हैं उन पर अर्घ्य का नियम लागू होता है । दूसरी बात यह है कि ये एवज़ी केवल वस्तुओं के विनिमय के माध्यम के काम ही आ सकते हैं ।

तीसरा अध्याय

अतिरिक्त अर्घ्य

साधारण आर्थिक ढाँचे में वस्तुओं के छोटे छोटे उत्पादक होते हैं जो उत्पादन के साधन के स्वयं मालिक हैं और जो अपने श्रम के उपज की बिक्री से ही गुज़र बसर करते हैं। ऐसी उत्पादन-प्रथा में अपनी आवश्यकतायें पूरी करने के लिये ही वस्तुओं का विनिमय होता है।

आज के दिन विनिमय का यह उद्देश्य नहीं है। उत्पादन-चक्र अब वस्तु-मुद्रा-वस्तु न होकर मुद्रा-वस्तु-मुद्रा का रूप ले लेता है। पूँजीपति की विनिमय क्रिया आरम्भ होती है, रुपये से माल खरीद कर उसको बेचना और रुपया बनाना। लेकिन पूँजीपति के लिये विनिमय का तभी कोई अर्थ होता है जब कि जितना रुपया वह खर्च करता है उससे ज्यादा उसकी आमदनी होती है। इसलिये वास्तविक पूँजीवादी उत्पादन चक्र है मुद्रा-

वस्तु-मुद्रा + अधिक मुद्रा अथवा मु—व-मु + मु यह मु कहां से आया ?

अर्घ्य के नियम के अनुसार वस्तुओं का मूल्य इस अर्घ्य के आस पास ही रहता है जब मूल्य अर्घ्य से बढ़ जाता है तो उस वस्तु के ज्यादा पैदावार में लोग लग जाते हैं। पैदावार बढ़ जाने से मूल्य फिर घट जाता है और उत्पादनकारी दूसरे वस्तु के पैदावार में लग जाते हैं। मूल्य के घटने बढ़ने के साथ पूँजी कभी इस वस्तु के उत्पादन में लगाई जाती है कभी उस वस्तु के, जब तक कि मूल्य और अर्घ्य बराबर नहीं हो जाता। मूल्य के इस बढ़ने घटने के अवसर पर कोई पूँजीपति अपने प्रतिद्वन्द्वी के मध्ये मुनाफ़ा कमा सकता है। लेकिन यह क्षण-स्थायी है और मूल्य के उतार चढ़ाव के अन्त के साथ इसका भी अन्त हो जाता है। इसलिये मांग और पूर्ति की विषमता इस प्रश्न का समाधान नहीं कर सकती कि सारे पूँजीपतिवर्ग के मुनाफ़े का क्या कारण है। यह केवल इतना ही बतला सकती है कि व्यक्तिगत रूप से किसी पूँजीपति के मुनाफ़े में कमी या बेशा क्यों होती है।

मार्क्स के शब्दों में प्रचलित अर्घ्यों का जोड़ उनके विभाजन के कारण बढ़ नहीं सकता। जैसे कामतो खनिज पदार्थों की तादाद में कोई भी अन्तर नहीं हो सकता चाहे थोड़े से लोग क्वीन (रानी) आने की फ़ादिंग (पैवा) को गिन्नी के दाम क्यों न बेचते हों।

सम्भव है, मुनाफ़े का कारण यह हो कि बेचनेवालों की यह विशिष्टता है कि वे वस्तुओं को अपने अर्घ्य में अधिक मूल्य में बेचते हों। लेकिन नहीं। हर पूँजीपति बेचनेवाला भी है खरीदनेवाला भी है। व्यापारी के लिये भी यही बात है। इसलिये विनिमय के कारण कुल अर्घ्यों के जोड़ में कोई अन्तर

नहीं हो सकता, क्योंकि बेचनेवाले की हैसियत से उसको जो लाभ होगा खरीदनेवाले की हैसियत से उसको उतना ही नुकसान होगा। वस्तुओं की आमदरफ्त से पूँजीपति के मुनाफे का भेद नहीं खुलता।

मार्क्स ने प्रश्न को यों रक्खा है—“हमारे दोस्तों की रुपये की थैली को वस्तुओं को अपने अर्घ्य पर खरीदना होगा और अपने अर्घ्य ही पर उनको बेचना होगा, फिर भी कारोबार के आरम्भ में उसने जितने अर्घ्य की लागत की थी कारोबार के अन्त में उससे अधिक उसको मिलना है।”

इस प्रश्न का समाधान तभी हो सकता है जब बाजार में एक ऐसा वस्तु हो जिसमें अर्घ्य पैदा करने का गुण हो। पूँजीवादी बाजार में जितने भी वस्तु हैं उनमें एक ही वस्तु है जिसमें यह गुण हो और वह वस्तु है श्रम-शक्ति। इसलिये अर्घ्य के मूल में यही वस्तु है।

हर एक समाज-निबन्ध के लिये श्रम-शक्ति एक वस्तु नहीं है। इसके लिये दो शर्तें जरूरी हैं—

(१) श्रमिक को व्यक्तिगत आजादी होनी चाहिए—यानी वह जैसे चाहे श्रम-शक्ति का उपयोग करे। यह आजादी गुलामों को प्राप्त नहीं।

(२) श्रमिक के पास निजी उत्पादन का साधन या जिन्दगी बसर करने का जरिया न होना चाहिए ताकि उसको मजबूरी अपनी श्रम शक्ति को बेचना पड़े।

अर्घ्य के नियम की बुनियाद पर श्रम शक्ति खरीदने पर पूँजीपति को उसका पूरा अर्घ्य देना चाहिए। श्रम शक्ति के अर्घ्य का परिमाण कैसे लगाया जाता है। श्रम-शक्ति फैक्टरी में पैदा नहीं की जाती है। जीवन की प्राकृतिक प्रक्रिया में ही इसका जन्म और विकास है। श्रम-शक्ति पूँजीपति के किस काम की है ?

इसकी उपयोगिता यही है कि वह श्रम-शक्ति को एक निदिष्ट समय के लिए काम में लगा सकता है। यहाँ श्रम की परिभाषा भी करनी चाहिए। श्रम मनुष्य की इच्छा-जनित और प्रज्ञात्मक क्रिया है जिसके द्वारा वह प्राकृतिक चीजों को मनुष्य-व्यवहार के उपयोगी बनाता है।

बाहरी प्रकृति पर काम करते हुए श्रमिक एक निर्दिष्ट परिमाण शारीरिक, मानसिक और स्नायविक शक्ति का व्यय करता है। अपनी श्रम-शक्ति को कायम रखने के लिये इस व्यय किए गए शक्ति की पुनः प्राप्ति होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जीवन धारण की सामग्रियों का एक निर्दिष्ट परिमाण उसको चाहिए। उसको मकान कपड़े आहार सामग्री आदि चाहिए। श्रम की धारा अटूट रहे इससे श्रमिक की वंशरक्षा भी होनी चाहिए। जीवन धारण के लिए आहार सामग्री के अलावा कुछ सांस्कृतिक ज़रूरतें भी पूरी करनी पड़ती हैं। ये ज़रूरतें भिन्न देशों में और भिन्न कालों में भिन्न हैं। उन देशों में जहाँ पूँजीवाद ने काफ़ी उन्नति की है जैसे ब्रिटेन और अमेरिका आर पिछड़े हुए देशों में जैसे भारत आदि के उपनिवेशों में इन ज़रूरतों के परिमाण और पर्याय में बड़ा अन्तर है।

वह श्रम-शक्ति, जिसमें हुनर का माहा अधिक है, अधिक कीमती है। इस अधिक कीमत की वजह यही है कि उसकी शिक्षा के लिए समाज ने श्रम-समय लगाया है। यह भी सही है कि ऐसे हुनरमन्द श्रमिक के जीवन और उन्नति के लिये साधारण श्रमिक से ज्यादा सहूलियतों का ज़रूरत है।

जीवन धारण की सामग्री, उसके व्यय किए हुए श्रम की पुनः प्राप्ति के लिए सामग्री, उसकी सांस्कृतिक और उसका वंश हर एक वस्तु का एक अर्थ है जिसको मापने का वही ज़रिया है जो हर वस्तु के लिये है यानी इनके उत्पादन के लिये सामाजिक आव-

श्यक श्रम-समय । जीवन धारण की इन सब सामग्रियों का सम्मिलित अर्घ्य ही श्रम-शक्ति का अर्घ्य है ।

ऐसा प्रतीत हो रहा होगा कि पूँजीपति बड़ा परस्वार्थी जीव है क्योंकि न सिर्फ वह मज़दूर ही का हितचिन्तक है बल्कि उसके परिवार का भी । लेकिन यह भूल है । इसके विपरीत वह हर सम्भव और असम्भव तरीक़े से मज़दूरों के रहन-सहन को नीचे गिराना चाहता है । लेकिन इसके बावजूद भी पूँजीपति को बाज़ार भाव के अनुसार मज़दूरी देनी पड़ती है । और वस्तुओं की तरह मज़दूरी का मूल्य भी अपने अर्घ्य के आसपास रहता है । मांग और पूर्ति के नियम के अनुसार मज़दूरी घटती बढ़ती रहती है ।

जब बाज़ार में पूँजीपति और मज़दूर दोनों मिलते हैं तो दोनों दो बराबर वस्तुओं के मालिक की हैसियत से मिलते हैं—मज़दूर बहैसियत श्रमशक्ति के मालिक के और पूँजीपति रुपये के मालिक के । श्रम-शक्ति को खरीदकर पूँजीपति इच्छानुसार इसका प्रयोग कर सकता है और इसके व्यवहार अर्घ्य से लाभ उठाता है । श्रम-शक्ति का व्यवहार अर्घ्य है श्रम, जो अर्घ्य की सृष्टि करता है । श्रम-शक्ति के व्यवहार-अर्घ्य के मालिक के नाते पूँजीपति श्रमिक को मिहनत करने के लिये बाध्य करता है ।

लेकिन श्रम-शक्ति की यही महान् विशिष्टता है कि जितना अर्घ्य इसका अपना है उससे अधिक अर्घ्य यह सृष्टि करता है । यदि यह मान लिया जाय कि उन सब वस्तुओं को बनाने में जिनसे मज़दूर जीवन धारण, वशरक्षा और मज़दूरी करता है ५ घण्टा समय लगता है तो पूँजीपति मज़दूर से काम लेता है १० घण्टे । इन आखिरी ५ घण्टों में मज़दूर जो कुछ पैदा करता है वह अपने अर्घ्य से अधिक पैदा करता है । इसी को अतिरिक्त अर्घ्य कहते हैं ।

पूँजीवादी उत्पादन-प्रथा के पहले भी शोषण जारी था, लेकिन उन प्रथाओं में श्रमिक पर मालिक का पूर्ण अधिकार था और श्रम-शक्ति खरीदने बेचने की सामग्री न थी, इसलिए उस समय के अतिरिक्त पैदावार को अतिरिक्त अर्थ का नाम नहीं दिया जा सकता। यह अतिरिक्त अर्थ पूँजीवादी प्रथा में ही सम्भव है।

जब श्रम-शक्ति का संयोग उत्पादन के साधनों से होता है जैसे मशीनें, मकानात, कच्चे माल इत्यादि तो उत्पादन किया सम्भव होती है और अतिरिक्त अर्थ की मृष्टि होती है। वे तमाम चीजें जिनका अर्थ है और जिनके संस्पर्श में ही अतिरिक्त अर्थ पैदा की जा सकती है पूँजी कहलाती है। श्रम-शक्ति भी जिसको पूँजीपति खरीदता है पूँजी में शामिल है।

चीजें अपने प्राकृतिक गुणों के ही कारण पूँजी नहीं बन जाती बल्कि कुछ विशेष सामाजिक सम्बन्धों के कारण जैसे पूँजीपति द्वारा मज़दूरों का शोषण।

काउटस्की ने लिखा है “कुछ लोग औजारों को ही पूँजी कहते हैं जिसके माने यह हुए कि जब कोई बन्दर बदाम आदि फोड़ता है तो वह पूँजीपति बन जाता है। इसी प्रकार जिस लकड़ी से कोई जंगली फल तोड़ता है वह भी पूँजी बन जाती है। कुछ औरों ने पूँजी की परिभाषा की है कि यह पुंजीभूत श्रम है। इस परिभाषा के अनुसार चींटियाँ भी रैथ्सचाइल्ड और क्रुप्स के सम्पर्क हो जाती हैं। कुछ अर्थनीतिज्ञों ने उन सब चीजों को पूँजी में शामिल किया है जो श्रम करने में सहायक हों और श्रम को उत्पादक बनाती हों। जैसे राष्ट्र, मनुष्य की बुद्धि और उसकी आत्मा। ये लड़कों की कहानियाँ पढ़ने में सुन्दर हैं लेकिन इनसे सामाजिक आकार, नियम और समाज की अन्तर्निहित शक्तियों का ज्ञान नही प्राप्त होता।”

उत्पादन के साधन और पुँजीकृत श्रम आदि तभी पूँजी बनते हैं जब ये अतिरिक्त अर्थ की प्राप्ति के साधन बन जाते हैं।

पूँजी में जो विभिन्न चीज़ें शामिल हैं उनका महत्व समान नहीं है। मशीन भी पूँजी का एक हिस्सा है। किसी वस्तु के उत्पादन में मशीन को रगड़ घिस के कारण अपना एक अंश, चाहे वह कितना ही कम हो खोना पड़ता है। इस अंश का अर्थ उस वस्तु के अर्थ में रूपान्तरित हो जाता है। परन्तु पूँजी का वह हिस्सा जिसमें कच्चा माल आदि शामिल हैं वे पूरे के पूरे उत्पादनक्रिया में काम आ जाते हैं और उनका पूरा अर्थ नये उत्पन्न वस्तु में शामिल हो जाता है। यह कैसे मालूम किया जाय कि मशीन का कितना हिस्सा किसी उत्पादित वस्तु में शामिल हुआ ? मान लीजिये कि उस मशीन में १०,००० दिन का श्रम शामिल है। यह भी मान लीजिये कि उत्पन्न वस्तु की तादाद ५०० है। अब यदि मशीन १० साल चले तो इस श्रमसे में कुल उत्पन्न वस्तुओं की तादाद होगी ५०००। प्रत्येक वस्तु में जो मशीन का हिस्सा शामिल है वह हुआ $\frac{10000}{5000} = 2$ दिन का श्रम।

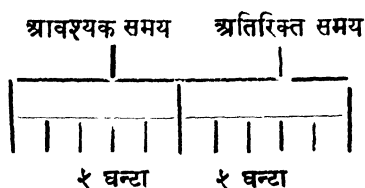
यहाँ देखने योग्य बात यह है कि उत्पादन के औजार और कच्चा माल आदि का जो हिस्सा खर्च होता है उतना ही उत्पन्न वस्तु में शामिल रहता है। समान अर्थ से समान अर्थ की सृष्टि होती है। फिर अतिरिक्त अर्थ कहाँ से आया जिसको पूँजीपति उस वस्तु को बेचकर प्राप्त करता है। यह अतिरिक्त अर्थ श्रम की ही सृष्टि है। मशीन और कच्चा माल आदि को अंशतः वस्तु में परिवर्तित करना यह भी श्रम ही का काम है। इस क्रिया में जो एक बात विशेष रूप से हो जाती है वह यह कि यह श्रम न केवल अपना अंश भी इस उत्पन्न वस्तु को प्रदान करता है बल्कि कुछ अधिक भी प्रदान करता है।

यही अधिक अश अतिरिक्त अर्घ्य है। मशीन और कच्चा माल का जो अश वस्तु में परिवर्तित हो जाता है उसमें कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता। परन्तु उस वस्तु में श्रम के कारण श्रम के अपने अर्घ्य से अधिक परिमाण अर्घ्य उस वस्तु में सम्मिलित हो जाता है। इस कारण मार्क्स ने मशीन और कच्चा माल आदि को स्थिर पूँजी कहा है और श्रम को अस्थिर पूँजी कहा है।

मज़दूर के शोषण का पता लगता है अतिरिक्त अर्घ्य और अस्थिर पूँजी के अनुपात से। जब यह अनुपात फ़ीसदी में आँका जाता है तो इसको अतिरिक्त अर्घ्य अथवा शोषण का दर कहते हैं। एक उदाहरण ले लीजिये। मान लीजिये स्थिर पूँजी है ६००) अस्थिर पूँजी है २००) और अतिरिक्त अर्घ्य है १००) तो शोषण का दर हुआ $\frac{100}{200} = 50$ फ़ीसदी। यानी हर घन्टा जो मज़दूर काम करता है उसमें आधा घन्टा वह मालिक के लिए अतिरिक्त अर्घ्य पैदा करता है।

अगर यह दर १०० फ़ीसदी है तो वह १ घन्टा परिश्रम करता है अपने श्रम के अर्घ्य की प्राप्ति के लिये और १ घन्टा श्रम करता है पूँजीपति को अतिरिक्त अर्घ्य दिलाने में। श्रम के उस हिस्से को जिससे मज़दूर को अपने श्रम के अर्घ्य की प्राप्ति होती है हम आवश्यक श्रम-समय कहते हैं और जिस हिस्से से अतिरिक्त अर्घ्य पैदा होता है उसको हम अतिरिक्त श्रम-समय अथवा केवल अतिरिक्त-समय कहते हैं।

पूँजीवादी उत्पादन-प्रथा में पूँजीपति सदा सर्वदा अतिरिक्त अर्घ्य बढ़ाने का ही स्वप्न देखता है। यह दो प्रकार में बढ़ाया जा सकता है। इसको समझने के लिये अगले पृष्ठ का रेखांक देखिये—



इस रेखांक के अनुसार शोषण का दर दो प्रकार से बढ़ सकता है। या तो आवश्यक श्रम समय घटा दिया जाय या अतिरिक्त समय बढ़ा दिया जाय। अतिरिक्त समय बढ़ाना आसान है और आरम्भ में पूँजीपति यही करता है।

लेकिन यह अतिरिक्त समय एक सीमा से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता। यह नीति-गर्हित तो होगा ही, प्राकृतिक कारणों से भी यह असम्भव है। दिन २४ घन्टे से अधिक नहीं हो सकता और श्रमिक को यदि दूसरे दिन काम करना है तो कुछ समय उसको विश्राम के लिये भी चाहिये। फिर ऐतिहासिक क्रमविकास और उन्नति के साथ एक सांस्कृतिक धारा बन जाती है जिसकी यह मांग होती है कि श्रम-समय एक निर्दिष्ट सीमा को पार न करे। श्रम-समय को बढ़ा कर जब अतिरिक्त अर्ध्य की सृष्टि होती है तो उसको निरपेक्ष अतिरिक्त अर्ध्य कहते हैं। श्रम-समय समान रखकर उसी समय के अन्दर अधिक मिहनत कराने से भी निरपेक्ष अतिरिक्त अर्ध्य की वृद्धि होती है। अधिक देखरेख और उत्पादन के बेहतर संगठन से यह नतीजा निकल सकता है।

कठिन श्रम के साथ पैदावार की वृद्धि होती है और श्रम-शक्ति के अर्ध्य की भी वृद्धि होती है क्योंकि श्रमिक की शारीरिक कमियाँ बढ़ जाती हैं और उसकी क्षति-पूर्ति के लिये अधिक व्यय करना पड़ता है। फिर भी एक सीमा के अन्दर श्रमिक का क्षति पूर्ण करते हुए भी उसको कसने से पूँजीपति को लाभ हो सकता है। परन्तु मजदूर श्रेणी के घोर विरोध के कारण काम का घन्टा

बहुत अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता है। बाध्य होकर पूँजीपति को ऐसा रास्ता ढूँढ़ना पड़ता है कि आवश्यक श्रम समय घटे। इस प्रकार से अतिरिक्त अर्घ्य की जो वृद्धि होती है उसको आपेक्षिक अतिरिक्त अर्घ्य कहते हैं।

हमें यह याद रखना होगा कि मज़दूर को मज़दूरी श्रम के अर्घ्य के अनुसार मिलता है। आपेक्षिक अतिरिक्त अर्घ्य की प्राप्ति हो सकती है आवश्यक श्रम-समय को घटाने से, यानी श्रम-शक्ति के अर्घ्य को घटाकर। यह घटाया तब जा सकता है जब मज़दूर के जीवन धारण की सामग्रियों का अर्घ्य घट जाय। इनके अर्घ्य के घटने का अर्थ यह है कि इनको पैदा करने के लिये पहले से कम श्रम-समय लगता है। यह तभी सम्भव है जब श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ जाय।

मज़दूर की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने के विभिन्न उपाय हैं। जिन अवस्थाओं में मज़दूर वस्तु उत्पादन करता है उन अवस्थाओं में सुधार, श्रम की हालात में सुधार, नई मशीनें, चीज़ों के अपचय में कमी, श्रमिकों के लिये कुछ अधिक सुविधा, जिससे उनकी कार्य-क्षमता बढ़ जाय—इत्यादि। अब यह स्पष्ट है कि श्रम शक्ति के अर्घ्य की कमी दो ही प्रकार से हो सकती है—श्रम की उत्पादन-शक्ति बढ़ जानी चाहिए। यह चाहे मज़दूर के रोज़ के खर्च की चीज़ों के निस्वत हो चाहे उन साधनों के निस्वत हों जिनके जरिये ये चीज़ें पैदा की जाती हैं।

निरपेक्ष अतिरिक्त अर्घ्य के फलस्वरूप मज़दूर श्रेणी की दशा खराब हो जाती है और समाज की उत्पादक शक्तियों में कोई वृद्धि नहीं होती है। इसके विपरीत आपेक्षिक अतिरिक्त अर्घ्य ही समाज की यान्त्रिक उन्नति का मूल है। इससे यह न समझना चाहिए कि पैदावार की उन्नति के लिये ही पूँजीपति चेष्टित है—

सच तो यह है कि अतिरिक्त अर्थ की लालच पूँजीपति को मज-बूरन् उन्नति की राह पर ले चलती है ।

पूँजीवादी प्रथा में मशीनों की उन्नति के साथ मज़दूरों का शोषण बढ़ता जाता है । मज़दूरों को नई और तेज़ मशीनों के साथ क्लृप्तमिलाकर चलना पड़ता है और अधिक एकाग्रचित्त होकर काम करने के लिये मजबूर होने के कारण उनकी स्वास्थ्य हानि भी होती है । इतने पर भी मशीनें मज़दूरों की जगहें लेती जाती हैं और मज़दूर अधिक से अधिक सख्या में बेकार होते जाते हैं ।

चौथा अध्याय

मज़दूरी

अतिरिक्त अर्घ्य का सारा राज़ यही है कि पूँजीपति श्रम-शक्ति को खरीदता है और उसी का मूल्य देता है न कि उस अर्घ्य के लिये जिसकी सृष्टि श्रम करता है । श्रम-शक्ति और श्रम की सृष्टि इन दोनों के अन्तर में ही अतिरिक्त अर्घ्य का रहस्य है । यदि मज़दूर अपने जीवन धारण की सब सामग्रियों को स्वयं ही पैदा करे और इनको पैदा करने में ५ घन्टा समय लगे तो पूँजीपति मज़दूर को ५ घन्टे श्रम का अर्घ्य देता है परन्तु मज़दूर से काम लेता है १० घन्टे । अवशिष्ट ५ घन्टे में मज़दूर पूँजीपति के लिये अतिरिक्त अर्घ्य पैदा करता है ।

श्रम-शक्ति के अर्घ्य को रुपये पैसे में आँकने से श्रम-शक्ति का मूल्य बन जाता है । श्रम-शक्ति के मूल्य का ही नाम मज़दूरी है ।

ऊपरी दृष्टि से देखने में ऐसा मालूम होता है कि मज़दूर को

न केवल श्रम-शक्ति के लिये ही मज़दूरी मिलती है बल्कि उसकी सारी मिहनत के लिये । इस श्रम के दो कारण हैं—

(१) मज़दूर अपनी मज़ादूरी के लिये दिन भर मिहनत करता है ।

(२) मिहनत के बाद ही मज़ादूर को मज़ादूरी मिलती है, इसके पहले नहीं ।

इस प्रकार मज़दूरी का रूप मज़ादूर और पूँजीपति के असली सम्बन्ध के ऊपर एक पर्दा डाल देता है । जैसे पहले कहा जा चुका है मज़ादूरी का असली स्वरूप है श्रम-शक्ति का मूल्य ।

आज मज़ादूरी रुपये पैमे में दी जाती है । पूँजीवादी समाज के विकास के आरम्भ में मज़ादूरी वस्तुओं में दी जाती थी ।

जब मज़दूरी रुपये पैसे में दी जाती है तो यह जानना जरूरी है कि उतने रुपये पैसे में मज़ादूर कितनी चीज़ें खरीद सकता है क्योंकि असली मज़ादूरी रुपया पैसा नहीं है बल्कि वे चीज़ें हैं जिनको यह रुपया पैसा खरीद सकता है । यदि उसकी मज़दूरी उतनी ही रहे लेकिन रुपये को खरीदने की ताकत घट जाय तो उसकी असली मज़ादूरी घट गई ।

पूँजीवादी समाज में मज़ादूरी दो प्रकार से दी जाती है—समय के हिसाब से और काम के परिमाण के हिसाब से । समय के हिसाब से मज़दूरी का अर्थ है कि मज़ादूर को प्रतिदिन के हिसाब से या सप्ताह या माहवारी के हिसाब से मज़ादूरी मिलती है । काम के परिमाण से मज़दूरी के माने यह है कि वस्तुओं की एक निर्दिष्ट तादाद बनाने के लिये उसको मज़दूरी मिलती है चाहे इनको बनाने में वह कितना भी समय लगावे ।

मज़दूरी के इन दो तरीकों से काम करने के तरीकों में भी अन्तर पड़ जाता है । जब समय के हिसाब से मज़दूरी दी जाती है तो मालिक को मज़दूरों की देखरेख के लिये काफ़ी खर्च

करना पड़ता है ताकि मज़दूर फ़ज़ूल वक़्त बरबाद न करे क्योंकि मज़दूर को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं कि उसी समय के अन्दर वह ज़्यादाह काम करे। इससे उसको कोई लाभ नहीं लेकिन जब वह तादाद के हिसाब से काम करता है तो उसकी देखरेख की कोई ज़रूरत नहीं क्योंकि वह स्वयं ही चाहता है कि ज़्यादाह पैदा करे ताकि उसको ज़्यादाह मज़दूरी मिले। वह अपनी मज़दूरी या श्रम-शक्ति का मूल्य तो कमाता है परन्तु जितना अधिक समय वह काम करता है उतना अधिक वह मालिक के लिये अतिरिक्त अर्घ्य कमाता है। पैदावार के हिसाब से मज़दूरी देने में मज़दूरों में आपस में होड़ बढ़ता है। इससे मज़दूरों की स्वास्थ्य हानि भी होती है। मज़दूर-श्रेणी बराबर ही इसका विरोध करती आई है।

मज़दूरी देने के और भी प्रकार हैं जिनका उद्देश्य ही है पूँजीवादी समाज के श्रेणीविभेद को छिपाना और बिना बाहरी दबाव के मज़दूरों को लालच देकर उनसे अधिक और अधिक तेज़ी से काम लेना।

एक प्रथा है बोनस देने की। इस प्रथा के अनुसार मज़दूर को प्रतिदिन नियमित रूप से पैदा करना पड़ता है जिसके लिये उसको निर्दिष्ट मज़दूरी मिलती है। इससे अधिक वह जितना पैदा करता है उसके लिये उसको बोनस मिलता है। इस आधिक पैदावार के लिये उसको किञ्चिन्मात्र ही मिलता है। जिस हिसाब से मालिक मज़दूरी देता है उस हिसाब से वह बोनस नहीं देता है।

दूसरी प्रथा है मुनाफ़ा में हिस्सा बटाने की प्रथा। इस प्रथा में भी उसको एक निर्दिष्ट मज़दूरी मिलती है। साल के अन्त में उसको कुछ धन मिलता है जिसको बतलाया जाता है मुनाफ़े का हिस्सा। मालिक चाहता है कि अपने को मुनाफ़े का हिस्सेदार

समझकर मजदूर ज्यादा ही मिहनत करे। लेकिन मुनाफ़े का एक नगण्य हिस्सा ही मजदूर के पल्ले पड़ता है यद्यपि वह जी-जान से यह कोशिश करता है कि कारखाने के मालिक को अधिक से अधिक मुनाफ़ा मिले। फिर भी मुनाफ़े में साझीदार बनाने के पहले पूँजीपति आरम्भ में ही मजदूरी में कुछ कमी कर रखता है ताकि मुनाफ़ा में साझीदार बनने पर भी उसको साधारण से अधिक मजदूरी नहीं मिलती। इधर पूँजीपति का इस बात में विशेष रूप से फ़ायदा है कि अधिक मुनाफ़ा की इन्तज़ारी में मजदूर उसी कारखाना में सालों तक चिपका रहता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि मजदूरी श्रम-शक्ति के मूल्य का ही नाम है। इस मूल्य का अन्तिम निर्णय अर्घ्य ही है। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से पूँजीपति सस्ता दर में श्रम-शक्ति ख़रीदना चाहता है लेकिन पूँजीवादी समाज में सामूहिक रूप से मजदूर श्रेणी को इतना मिलता है कि वह अपनी नष्ट शक्ति की पुनःप्राप्ति कर सके। यदि मजदूर उतनी ही तादाद में होते जितनी कि उनकी ज़रूरत है तो मजदूरी का अर्घ्य और मूल्य बराबर होता। व्यवहार में ऐसा न होने के कारण श्रम का मूल्य उसके अर्घ्य के आस-पास घूमता है।

यह समझने के लिये कि पूँजीवादी समाज में मजदूरी पर किन चीज़ों का असर पड़ता है, हमें यह जानना चाहिए कि (१) श्रम-शक्ति का अर्घ्य किन बातों पर निर्भर है और (२) श्रम की माँग और पूर्ति की असामञ्जस्य के कारण क्या हैं ?

श्रम-शक्ति का अर्घ्य इससे निर्धारित होता है कि इसके पुनरुत्पादन के लिये जीवन धारण की जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उनका अर्घ्य क्या है।

पूँजीपति के लिये मजदूरों की माँग और मजदूरों द्वारा इस

माँग की पूर्ति, यह निर्भर करता है कई चीज़ों पर, लेकिन विशेष तौर पर इस बात पर कि उद्योग-धन्धों की साधारण हालत क्या है और राष्ट्रीय आर्थिक संगठन किस प्रकार का है।

जब उद्योग-धन्धों का विस्तार होता है और नये कारखाने खुलते हैं तो श्रमिकों की माँग बढ़ सकती है। लेकिन उद्योगों के प्रसार के साथ मशीनों में भी उन्नति होती है और वस्तुओं का पैदावार जितना बढ़ता है मज़दूरों की संख्या उस अनुपात में नहीं बढ़ती।

यह तो तब जब पूँजीवाद अपने ढंग से कुछ तरकीबें पर हो। परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमजकता का प्राधान्य होने के कारण उद्योग-धन्धों में प्रसार होने के कुछ बाद ही एक संकट काल उपस्थित हो जाता है और कितने ही कारखाने बन्द हो जाते हैं। फलस्वरूप मज़दूरों की माँग घट जाती है और उनको कारखानों से छुट्टी दे दी जाती है।

बेकार मज़दूरों की तादाद मज़दूरों की मज़दूरी घटाने के काम आती है। अब पूँजीपति को इस बात की कोई फ़िक्र नहीं कि मज़दूर को अपनी नष्ट शक्ति फिर मिले। हजारों मज़दूर कारखाने के फाटक के बाहर खड़े रहते हैं और मालिक को रोज़ नये मज़दूर मिल सकते हैं। अब मज़दूर को अपनी श्रम शक्ति के पूरे अर्ध के मिलने की सम्भावना नहीं रहती।

पूँजीवादी समाज में बेरोज़गारी के साथ निम्न-मध्यम श्रेणी और किसानों की हालत भी गिरती जाती है और इसके कारण भी मज़दूरी का दर घटता जाता है। क्योंकि इन श्रेणियों के लोग भी मज़दूरों में शामिल होते जाते हैं। नई मशीनें भी ईजाद होती ही जाती हैं और मज़दूरों को बेकार करती जाती हैं। इस प्रकार न केवल संकटकाल में बल्कि पूँजीवाद की साधारण अवस्था में भी बेकारी लगी ही रहती है।

हर देश में उजड़ा हुआ किसान ही मज़दूर होता है। यही नहीं बल्कि पिछड़े हुए कृषिप्रधान देशों से मज़दूर काम की खोज में ऐसे मुल्कों में जाया करते हैं जहाँ उद्योग-धन्धे बहुत हों। मज़दूरी के बाज़ार का नियन्त्रण इसी प्रकार से होता है।

मज़दूरी के बाज़ार में पूँजीपति और मज़दूर दोनों ही अपने वस्तुओं के मालिक होने के नाते सामानों के रूप में मिलते हैं। परन्तु सुविधा पूरी तौर पर पूँजीपति को ही है। पूँजीपति अपना रुपया कुछ दिन काम से न लगा सकने पर भी इन्तज़ार कर सकता है, पर मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति एक दिन भी न बेचे तो भूखों मर जाय। मज़दूर अकेला पूँजीपति का मुक्ताबला नहीं कर सकता। इसीलिये सामूहिक रूप से मज़दूर श्रेणी अपनी श्रम-शक्ति के अर्घ्य को क़ायम रखने की कोशिश करती है। मज़दूर-सभाओं के द्वारा और राजनैतिक क्षेत्र में पूँजीपति और मज़दूर की लड़ाई जारी रहती है।

पाँचवाँ अध्याय

मुनाफ़ा और उत्पादन का मूल्य

यदि मान लिया जाय कि स्थिर पूँजी का परिमाण 'क' है, अस्थिर पूँजी का परिमाण 'ख' है यानी श्रम-शक्ति का अर्घ्य 'ख' है और अतिरिक्त अर्घ्य का परिमाण 'ग' है तो शोषण का दर या अतिरिक्त अर्घ्य का दर है $\frac{ग}{ख}$, परन्तु पूँजीपति यह जानना चाहता है कि उसने जो पूँजी लगाई है। उसके अनुपात में उसको अतिरिक्त अर्घ्य कितना मिला। वह चाहता है मुनाफ़ा और मुनाफ़े का दर है $\frac{ग}{क + ख}$ यानी कुल पूँजी के मुक्ताबले अतिरिक्त अर्घ्य का अनुपात।

पूँजीपति के लिये यह जानना ज़रूरी है कि किस व्यवसाय में वह अपनी पूँजी लगाये; वह वहाँ अपनी पूँजी लगाना चाहता है जहाँ उसको सबसे ज़्यादा मुनाफ़ा मिले। वह

साधारणतया सालाना एक अच्छी रकम मुनाफ़ा के लिये इच्छुक रहता है।

एक कपड़े का मिल और एक दियासलाई के कारखाने का उदाहरण ले लीजिये। मान लीजिये कि दोनों में मज़दूरों की तादाद बराबर है और दोनों जगह शोषण समान है। मान लीजिये कि अतिरिक्त अर्घ्य दोनों जगह ३०,००० रुपये है। परन्तु कुल पूँजी कपड़ा मिल में ३ लाख रुपये हैं और दियासलाई के कारखाने में डेढ़ लाख रुपये हैं, तो मुनाफ़े का दर पहले में १० फ़ी सदी $\left(\frac{३०,०००}{३००,०००}\right)$ है और दूसरे में २० फ़ी सदी $\left(\frac{३०,०००}{१५०,०००}\right)$ है।

यदि उपर्युक्त उदाहरण में दियासलाई के कारखाने में न केवल कुल पूँजी की लागत आधी हो बल्कि अतिरिक्त अर्घ्य भी आधा हो तो मुनाफ़े का दर समान ही रहेगा।

स्थिर और अस्थिर पूँजी के सम्बन्ध को पूँजी का आन्तरिक संगठन कहते हैं यानी $\frac{क}{ख}$ । पूँजीपति जितना मज़दूरों पर खर्च करता है उसके अनुपात में जितना अधिक मशीन आदि पर खर्च करता है उतना ही पूँजी के आन्तरिक संगठन की वृद्धि होती है और मुनाफ़े का दर घटता जाता है। क्योंकि मुनाफ़े का दर है $\frac{ग}{क + ख}$, अब यदि दो कारखानों के एक में 'क' 'ख' का दुगुना हो और दूसरे में 'क' 'ख' का चार गुना हो तो अवश्य ही पहले में आन्तरिक संगठन $\left(\frac{क}{ख}\right)$ कम है और मुनाफ़ा ज़्यादा है और दूसरे में आन्तरिक संगठन ज़्यादा है और मुनाफ़े का दर कम है। साधारण तौर पर मशीनों की उन्नति के साथ उतनी ही तादाद श्रमिकों की देखरेख में मशीनों की तादाद बढ़ा दी जाती

है और पूँजी का आन्तरिक संगठन बढ़ता जाता है। इस प्रकार यान्त्रिक उन्नति के साथ मुनाफ़े का दर घटता जाता है।

पूँजी और स्थिर पूँजी और अस्थिर पूँजी के अनुपात के अलावा भी कुछ बातें हैं जिनका असर मुनाफ़े के दर पर पड़ता है। पूँजीपति मुनाफ़े का यह भी हिसाब लगाता है कि उसको साल में कितना मुनाफ़ा मिला और इसके लिये वह साल भर की आमदनी को अपनी सारी पूँजी से भाग लगाता है।

लेकिन किसी व्यवसाय की पूँजी साल भर तक एक साँ नहीं रहती। उत्पादन प्रक्रिया के सिलसिले में ही इसका कुछ हिस्सा तैयार माल बन जाता है। वस्तु के अर्थ में मशीन का घिसा हुआ हिस्सा शामिल हो जाता है और उत्पादन प्रक्रिया में कच्चा माल और श्रम आदि का भी इस्तेमाल हो जाता है।

तैयार माल बाज़ार में बिकता है और बिकी के रुपये से नये सिरेसे कच्चा माल और श्रम-शक्ति की खरीद की जाती है और मशीन के घिसे हुए हिस्से की जगह ताजा हिस्सा जोड़ दिया जाता है।

इस नई पूँजी से फिर वस्तु बनते हैं और ये वस्तु रुपये में रूपान्तरित होते हैं और ये रुपये फिर उत्पादक पूँजी बन जाते हैं और फिर पुनः सिलसिला जारी हो जाता है।

इस प्रथा को पूँजी का दौरा कहते हैं।

पूँजी के भिन्न हिस्सों के दौरों का समय समान नहीं है। जैसे मशीन, मकान आदि का अर्थ धीरे धीरे करके बहुत छोटे टुकड़ों में वापस मिलता है। बहुत अरसे के बाद पूँजीपति को कहीं पूरी मशीन का दाम वापस मिलता है जिससे वह नई मशीन खरीद कर उससे काम ले सकता है।

जहाँ तक कच्चा माल और श्रम-शक्ति का ताल्लुक है एक ही दौरा में उनका पूरा अर्थ हस्तान्तरित हो जाता है।

जो पूँजी कच्चा माल और श्रम-शक्ति में लगाई जाती है

उसको दौरा की पूँजी कहते हैं। जो पूँजी मशीन और मकानों में लगाई जाती है उसको बँधी पूँजी कहते हैं।

जितनी ज़्यादा बँधी पूँजी होगी और जितना धीमा इसका दौरा होगा उतनी ज़्यादा पूँजी अचल रहेगी और पूँजीपति के लिये मुनाफ़े का दर घटता जायगा। इसके विपरीत पूँजी का दौरा जितना तेज़ हो और यदि दौरे की पूँजी का हेरफेर साल भर में अधिक बार हो तो सारी पूँजी पर मुनाफ़ा बढ़ जायगा।

इस दृष्टिकोण से दो बातें बहुत महत्त्व रखती हैं। एक तो यह कि मशीनों की तरक्क़ी के साथ मशीनों में ज़्यादा दाम लगता है, बहुत बड़ी और पेचीदा मशीनों का इस्तेमाल होता है और मुनाफ़े का दर घटता जाता है। दूसरे बात यह है कि उपभोग की सामग्रियों के कारख़ाने में पूँजी का दौरा तेज़ होता है बनिस्वत उस कारख़ाने के जहाँ मशीनें बनाई जाती हों।

किसी भी व्यवसाय में पूँजी के दौरे का रफ़्तार मालूम हो सकता है, यदि हमको दो चीज़ें मालूम हों। एक तो पूँजी का परिमाण और दूसरा यह कि साल में पूँजी का हेरफेर कितनी बार होता है। मशीनों की तरक्क़ी के साथ पूँजी के दौरे का रफ़्तार तेज़ हो सकता है यदि आमदरफ़्त के ज़रियों में तरक्क़ी हो; क्योंकि तब चीज़ें ख़रीदनेवालों के पास जल्दी पहुँच सकती हैं और पूरे माल की बिक्री जल्दी हो जाती है। और भी कुछ ऐसे कारण हो सकते हैं जिनसे पूँजी के दौरे का समय न बढ़कर कुछ घंटे हो। लेकिन पूरे तौर पर देखने से यह निर्विवाद सिद्ध है कि मशीनों की तरक्क़ी के साथ पूँजी का दौरे का समय बढ़ जाता है।

इस रफ़्तार का हिसाब समझने के लिये एक उदाहरण ले लीजिये—

मान लीजिये बँधी पूँजी है ८०,००० रु०

(दौरे का समय ८ साल)

और दौरे की पूँजी है २०,००० रु०

(दौरे का समय एक महीना)

साल भर में बची पूँजी का हेर फेर है $= \frac{८००००}{८}$

$= १०,०००$ रुपये

,, दौरे की ,, $= २०,००० \times १२$

$= २४०,०००$ रुपये

साल भर में कुल पूँजी का हेर फेर है $= २५०,०००$ रुपये

कारखाने में कुल पूँजी का लागत है $= ८०,००० + २०,०००$

$= १$ लाख रुपये

कुल पूँजी के हेरफेर को कुल लागत पूँजी से भाग देने से रफ्तार मालूम हो जायगा। वर्तमान उदाहरण में रफ्तार है साल भर में ढाई बार।

जो कुछ पिछले हिस्से में पूँजी के आन्तरिक संगठन और इसके दौरे के रफ्तार का मुनाफ़े के दर के ऊपर असर के विषय में कहा गया है उनसे इस बात को न भूलना चाहिए कि मुनाफ़े के दर के ऊपर सबसे ज्यादा असर है अतिरिक्त अर्ध्य का यानी शोषण के दर का।

अतिरिक्त अर्ध्य का जो हिस्सा पूँजीपात को मिलता है उसी का नाम मुनाफ़ा है। मज़दूर श्रेणी का शोषण जितना अधिक होगा, उनसे अतिरिक्त अर्ध्य की प्राप्ति जितनी अधिक होगी मुनाफ़े का दर भी उतना अधिक होगा यद्यपि यह सही है कि शोषण के अनुपात में ही मुनाफ़े के दर में वृद्धि नहीं होती।

पूँजीवादी समाज में मशीनों की उन्नति के साथ मज़दूरों का शोषण बढ़ता जाता है और इससे मुनाफ़ा के दर की वृद्धि अवश्यम्भावी है। लेकिन सब समय यह हो नहीं पाता क्योंकि

मशीनों की उन्नति के साथ पूँजी का आन्तरिक संगठन भी बढ़ जाता है और पूँजी के दौरे की धीमी गति से मुनाफ़े का दर घटता जाता है ।

शोषण का दर और पूँजी का आन्तरिक संगठन और मुनाफ़ा का दर इनके आपसी संबंध पर नीचे का अंक कुछ प्रकाश डालेगा—(इसमें मुनाफ़े का दर है 'मु', अतिरिक्त अर्घ्य है 'अःअ', अतिरिक्त-अर्घ्य का दर है अः' अ', स्थिर पूँजी है 'स्थिः पू', अस्थिर पूँजी है 'अः पू')

$$\text{मु} = \frac{\text{अः अ}}{\text{स्थिः पू + अः पू}} \quad (१)$$

$$\text{अः' अ'} = \frac{\text{अः अ}}{\text{अः पू}} \quad (२)$$

$$\text{जिससे अः अ} = \text{अः'अ'} \times \text{अः पू}$$

अः अ का यह परिमाण (१) में प्रयोग करने से

$$\text{मु} = \frac{\text{अः' अ'} \times \text{अः पू}}{\text{स्थिः पू + अः पू}}$$

जिससे यह स्पष्ट है कि मुनाफ़े का दर अतिरिक्त अर्घ्य अथवा शोषण के दर के प्रत्यक्ष अनुपात में है । यह भी इससे स्पष्ट है कि मुनाफ़े का दर और पूँजी के आन्तरिक संगठन का क्या सम्बन्ध है ।

**मुनाफ़े का औसत दर
और इसके घटने की
प्रवृत्ति**

मशीनों की तरक्क़ी से पूँजी का आन्तरिक संगठन बढ़ता है और इसकी गति धीमी हो जाती है और इनके कारण मुनाफ़े के दर का घटना ज़रूरी हो जाता है । पूँजीवादी समाज में जहाँ सभी मुनाफ़ा के पीछे दौड़ते हैं पूँजी बारम्बार जगह बदलती रहती है, एक उद्योग से दूसरे उद्योग में लगाई जाती है और जहाँ मुनाफ़ा ज़्यादा मिलता

है वहीं पूँजी लगती जाता है जब तक होड़ के कारण वहाँ का मुनाफ़ा घट नहीं जाता। इधर जहाँ से मुनाफ़ा कम है वहाँ से पूँजी हटते-हटते मुनाफ़ा फिर बढ़ जाता है।

भिन्न भिन्न उत्पादन क्षेत्रों में और भिन्न भिन्न पूँजियों से जिनके आन्तरिक संगठन विभिन्न हैं इस प्रकार एक औसत मुनाफ़ा क़ायम हो जाता है। लेकिन मुनाफ़ा बिलकुल बराबर नहीं हो पाता क्योंकि एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में पूँजी उठा कर लगाना कोई सहज काम नहीं है। मशीनें इतनी बहुमूल्य होने लगी हैं कि कम मुनाफ़ा पाने पर भी पूँजीपति उनका बेचकर रुपया नये कारोबार में लगा नहीं सकता। इस कठिनाई के कारण यह नियम रह तो नहीं होता है कि पूँजीवाद समाज की एक औसत मुनाफ़ा की ओर प्रवृत्ति रहती है लेकिन इस नियम के लागू होने में कुछ विलम्ब होता है।

पिछले दिये गये अंक से हमको सारे समाज के लिये औसत मुनाफ़े का दर मालूम हो सकता है यदि हम यह मालूम कर लें कि सारे समाज की औसत पूँजी क्या है और इस पूँजी में स्थिर और अस्थिर भाग क्या है और औसत अतिरिक्त अर्घ्य क्या है। जैसे पहले कहा जा चुका है यह औसत मुनाफ़े का दर इस पर भी निर्भर करेगा कि सारे समाज के लिये पूँजी के दौरे का रफ़्तार क्या है। लेकिन यह तो स्पष्ट ही है कि हर एक पूँजीपति को मुनाफ़ा समान दर से नहीं मिलेगा। नई मशीनों के प्रयोग के कारण किसी किसी पूँजीपति को, औसत से अधिक मुनाफ़ा मिल सकता है। यह एक प्रकार का अतिरिक्त मुनाफ़ा है। जब इन नई मशीनों का प्रयोग साधारण रूप से होने लगता है तो इस अतिरिक्त अर्घ्य का अन्त हो जाता है। यहाँ तक कि ऐसा भी होता है कि किसी वस्तु विशेष का मूल्य इतना घट जाता है कि औसत मुनाफ़ा भी नहीं मिल पाता। तब फिर उल्टा चक्र चलता है

और पूँजी इस उत्पादन क्षेत्र से दूसरे उत्पादन क्षेत्र को ले जाई जाती है और फिर एक बार औसत मुनाफ़ा कायम हो जाता है ।

औसत मुनाफ़ा से कम या ज़्यादा मुनाफ़े का उतार चढ़ाव बिल्कुल अर्थ के ह्रास गिराव मूल्य के घटने बढ़ने के अनुरूप है । जिस समाज में लांग मुनाफ़ा के पीछे अन्धे की तरह दौड़ते हैं वहाँ पूँजीपति का व्यक्तिगत मुनाफ़ा औसत मुनाफ़े के काँटे पर शायद ही क्षण भर रुकता हो, कभी इससे थोड़ा अधिक हो जाता है कभी इससे थोड़ा कम ।

जब नये यन्त्रों की ईजाद जन साधारण की सम्पत्ति हो जाती है तो न केवल अतिरिक्त मुनाफ़ा ही उड़ जाता है बल्कि साथ ही एक और नतीजा होता है । इसका असर सारे समाज की पूँजी के आन्तरिक संगठन पर पड़ता है और इसके फलस्वरूप मुनाफ़ा का औसत गिर जाता है । इससे व्यक्तिगत रूप से किसी पूँजीपति पर इसका असर भले ही न पड़े लेकिन पूँजीपति व्यक्तिविशेष के मुनाफ़े का नियामक और नियन्त्रक यही है ।

**उत्पादन के मूल्य का
पूँजीवादी हिसाब**

मुनाफ़ा ही पूँजीवादी समाज का जीवन है । पूँजीपति का नारा है अधिकतम मुनाफ़ा । अपनी इच्छा के अलावा प्रतियोगिता के कारण भी उसको ऐसा करना पड़ता है । किन उपायों से उसको मुनाफ़ा अधिक मिल सकता है ? प्रतियोगिता के संग्राम में चीज़ों का दाम बढ़ाकर वह मुनाफ़ा नहीं कमा सकता, वस्तुओं का उत्पादन मूल्य घटा कर ही वह प्रतियोगिता में टिके रहकर मुनाफ़ा बढ़ा सकता है या हासिल कर सकता है ।

उत्पादन मूल्य का हिसाब लगाने के लिये हर खर्च का मालूम होना ज़रूरी है और प्रत्येक वस्तु के उत्पादन के लिये ठीक कितना खर्च होता है इसका पता लग जाता है ।

मुख्य खर्च हैं कच्चा माल का, ईंधन का, दीगर ज़रूरत की चीज़ों का और मज़दूरी का ।

कच्चा माल का खरीद उन खर्चों में एक मुख्य स्थान रखता है जिनसे उत्पादन के खर्च का हिसाब लगाया जाता है । इसलिये कच्चा माल सस्ता खरीदना ही मुनाफ़े का एक बहुत बड़ा अंश होता है । इसलिये उन पूँजीपतियों में जो कच्चा माल बेचते हैं और उन पूँजीपतियों में जो कच्चा माल खरीदते हैं बहुत कशमकश रहा करता है । इस तनातनी में विजय पाने के लिये कभी कभी अधिक धनी पूँजीपति अपनी फ़ैक्टरियों के लिये कच्चा माल स्वयं ही उत्पन्न करते हैं । पिछड़े हुए मुल्कों के कच्चा माल प्राप्त करने में इनको अपने राष्ट्र की भी सहायता मिल जाती है ।

न केवल कच्चा माल सस्ता खरीदना बल्कि उसका सबसे लाभदायक उपाय से उपयोग करना भी मुनाफ़ा हासिल करने का सबसे बड़ा उपाय है । चीज़ें बहुत सस्ती बन सकती हैं यदि उन चीज़ों की भी उपयोगिता दूंदू निकाली जा सके जो इन चीज़ों के बनाने में साधारणतया फेंक दी जाती हैं । परन्तु यह विज्ञान की उन्नति पर ही निर्भर है ।

कच्चा माल के बाद खर्च का नम्बर आता है ईंधन का । लकड़ी और कोयले के बाद तेल और बिजली के इस्तेमाल से ईंधन का खर्च और घट गया है लेकिन अब भी कारख़ानों के लिये ईंधन का खर्च बहुत बड़ा खर्च है ।

एक और प्रधान खर्च है मज़दूरी का । पूँजीपति इसके लिये बहुत प्रयत्नशील रहता है कि मज़दूरी का खर्च कम हो । हमने पिछले हिस्से में देखा है कि किन उपायों से पूँजीपति मज़दूरी का खर्च कम करता है जैसे मज़दूरों की उत्पादन शक्ति को बढ़ाना, श्रमिकों की एकाग्रचित्तता को बढ़ाना, और मज़दूरी घटाना इत्यादि ।

मज़दूरी, ईंधन और कच्चा माल के अलावा भी कुछ खर्च है जैसे मशीनों का क्षय और फैक्टरी सञ्चालन का खर्च आदि ।

मशीनों के क्षय का खर्च कितना है ? माल की बिक्री पर पूँजीपति जो मुनाफ़ा हासिल करता है उसका एक हिस्सा वह इसलिये अलग कर रखता है कि साल पर साल इसको जोड़कर वह अपनी लागत पूँजी को लौट पाना चाहता है । यही मशीन के क्षय का व्यय है । इस सिलसिले में एक और बात ध्यान रखने योग्य है कि किसी एक वस्तु के उत्पादन के मशीनों के चालू रहते रहते नई और अच्छी मशीनों का आविष्कार होता रहता है ।

सञ्चालन के खर्च में शामिल हैं ऐसे खर्च जैसे अफ़सर, दरबान, मकान सफ़ाई, मज़दूरों के लिए स्कूल, अस्पताल आदि का खर्च । उत्पादन के केन्द्रीकरण से ये खर्च भी घट जाते हैं । जितनी बड़ी फैक्टरी होगी और जितने ज़्यादा वस्तुओं का उसमें उत्पादन किया जायगा फ़ी वस्तु सञ्चालन का खर्च उतना ही घट जायगा । व्यापारिक और ऐडवर्टिज़मेन्ट आदि का खर्च भी इसी मद में शामिल किया जाता है ।

इस प्रकार खर्चों का मद अलाहिदा करने से दूसरे पूँजीपतियों की प्रतियोगिता में उसको विशिष्ट मदों का खर्च कम करने में आसानी होती है ।

ऊपर कही गई बातों से हम नीचे लिखे नतीजों पर पहुँचते हैं:—

(१) हर पूँजीपति वह कोशिश करता है कि अपने वस्तुओं को बेचकर वह पुनरुत्पादन का पूरा खर्चा हासिल करे, तथा ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा हासिल करे ।

(२) प्रतियोगिता के कारण और पूँजी का प्रयोग एक व्यवसाय से हट कर दूसरे व्यवसाय में होने के कारण पूँजीपति का मुनाफ़ा औसत मुनाफ़ा के आस-पास रहता है और यह औसत

मुनाफ़ा समाज की सारी पूँजी के आन्तरिक संगठन पर निर्भर है ।

(३) जिस मूल्य को केन्द्र बनाकर पूँजीवादी समाज का मूल्य घूमता है वह है उत्पादन का खर्च और औसत मुनाफ़े का जोड़ । पूँजीवादी समाज को नियन्त्रित करनेवाले इस मूल्य को उत्पादन का मूल्य कहते हैं ।

जो मिल मालिक आदि बड़ी बड़ी मशीनों से काम चलाते हैं यानी जिनकी पूँजी का आन्तरिक संगठन अधिक है और जो उत्पादन के मूल्य पर चीज़ों को बेचते हैं उनको उनके मुक़ाबले में अधिक मुनाफ़ा मिलता है जिनकी पूँजी का आन्तरिक संगठन कम है । पहले क्षेत्र में कुल पूँजी के अनुपात में अतिरिक्त अर्घ्य का परिमाण कम है लेकिन मज़दूरों की उत्पादनशक्ति अधिक है । लेकिन यह तो सही है कि दोनों क्षेत्रों में पूँजीपति को औसत मुनाफ़ा मिलना है । वास्तविक मुनाफ़ा औसत मुनाफ़ा से इधर उधर होने का कारण यह है कि पूँजी एक व्यवसाय से हटाकर दूसरे व्यवसाय में डाल दी जाती है ।

यदि समाज द्वारा उत्पन्न सब वस्तुओं के मूल्य को जोड़ा जाय तो वह उनके अर्घ्य के जोड़ के समान होगा । यह यों भी स्पष्ट है क्योंकि एक व्यवसाय में पूँजीपति के नुक़सान को दूसरे व्यवसाय में पूँजीपति का लाभ बराबर कर डालता है ।

यह बात अब सहज ही समझ में आ सकती है कि अर्घ्य पूँजीवादी समाज में अन्तर्हित नहीं हो जाता बल्कि सारे समाज के लिये यह मूल्य का निर्णायक है । क्योंकि उत्पादन का खर्च और औसत मुनाफ़ा को जोड़कर ही मूल्य बनता है; और औसत मुनाफ़ा औसत अतिरिक्त अर्घ्य पर निर्भर है और अतिरिक्त अर्घ्य अर्घ्य पर निर्भर है ।

मूल्य और अर्घ्य का यह सम्बन्ध वास्तव में मनुष्यों के बीच का सम्बन्ध है । इसी सम्बन्ध से यह निर्णय होता है कि सामा-

जिक श्रम का प्रयोग किस दिशा में किया जायगा । साधारण वस्तु उत्पादक आर्थिक संगठन-प्रणाली के अन्तर्गत अर्थ ही श्रम की दिशा को निर्धारित करता है । जिस दिशा में मूल्य अर्थ से अधिक होता है वहीं पूँजी का प्रयोग होता है । लेकिन उन्नत पूँजीवादी समाज में औसत मुनाफ़ा से जहाँ अधिक मुनाफ़ा मिलता है वहीं पूँजी का प्रयोग होता है । और पूँजी के प्रयोग का असली अर्थ है सामाजिक श्रम के बटवारे में परिवर्तन । इस प्रकार वस्तुओं के मालिकों के बीच एक विशेष सम्बन्ध स्थापित होता है और पूँजीपति और श्रमिकों के बीच तथा पूँजीपति और पूँजीपति के बीच भी विशिष्ट सम्बन्ध कायम हो जाता है ।



छठा अध्याय

व्यापारी पूँजी

तथा

व्यापारी का मुनाफ़ा

हमने देख लिया कि अतिरिक्त अर्ध्य की सृष्टि कैसे होती है ; कैसे यह मुनाफ़े में परिवर्तित हो जाता है और यह मुनाफ़ा किस प्रकार पूँजीपति के जेब में पहुँचता है । लेकिन पूँजीपति के अलावा ज़मीन्दार और व्यापारी भी बिना परिश्रम के लाभ उठाता है । पूँजीवादी आर्थिक संगठन-प्रणाली में इनका क्या हिस्सा है ? इनका मुनाफ़ा कहाँ से आता है ?

पूँजी का दौरा

दौरे में पूँजी भिन्न अवस्थाओं से होकर गुज़रता है—

(१) उत्पादन प्रक्रिया के आरम्भ में पूँजीपति अपने रुपयों की पूँजी लगाकर कार्यारम्भ करता है । इन रुपयों से वह

उत्पादन प्रक्रिया के लिये शोषण का साधन, जैसे मशीन, कच्चा माल और श्रम-शक्ति खरीदता है । इस अवस्था में रुपया वस्तुओं में परिवर्तित होता है । इस अवस्था को चिह्न-रेखा में कह सकते हैं—मुद्रा—वस्तु अथवा केवल मु—ब जहाँ ‘ब’ का अर्थ है उत्पादन के साधन और श्रम-शक्ति का जोड़ ।

(२) इसके बाद खरीदे हुए वस्तुओं के द्वारा शोषण क्रिया का आरम्भ हो जाता है । इस द्वितीय अवस्था को हम चिह्नित कर सकते हैं—ब—मु—ब । इसी प्रक्रिया में अतिरिक्त अर्घ्य की उत्पत्ति होती है । इसको हम चिह्नित कर सकते हैं ब—उ—ब’ (जहाँ ‘उ’ उत्पादन प्रक्रिया के लिये है, और ब’ = उत्पन्न वस्तुओं के जिसमें अतिरिक्त अर्घ्य जुड़ा हुआ रहता है ।

(३) जिन वस्तुओं को लेकर कार्यारम्भ हुआ उनसे ज्यादा वस्तु पैदा किया गया । इन वस्तुओं को अब बेचा जाता है और इनके रुपये बनते हैं और फिर उत्पादन-चक्र चलता रहता है । इस आखिरी अवस्था को हम चिह्नित कर सकते हैं : ब’—मु’ यानी लागत रुपये से अधिक रुपये की प्राप्ति हुई । हम इस सारे उत्पादन-चक्र या पूँजी के दौरे को चिह्नित कर सकते हैं :—

मु—ब...उ.....ब’—मु’ ।

व्यापारिक पूँजी व्यापारिक पूँजी का सम्बन्ध इसी तीसरे हिस्से से है । यदि यह मान

लिया जाय कि कारखाने के मालिक को ही अपने कारखाने के उत्पन्न माल को बेचकर रुपया वसूल करना होगा तो उसको इस काम के लिये कुछ पूँजी अलग कर रखना होगा । कुल उत्पन्न वस्तुओं के एक हिस्से से ही यह पूँजी बनती है । माल के खरीद फ़रोख्त के सिलसिले में बहुत से खर्च होते हैं,

जैसे ऐडवर्टिज़मेन्ट, दुकान रखना, दुकान के लिये नौकर रखना, माल खाना करने का खर्च इत्यादि । खरीदार ढूँढ़ने में और माल बेचकर रुपया वसूल करने में कुछ-समय लगता है । इसका मतलब यह है कि इस बीच में जब कि तैयार माल बिक नहीं जाता पूँजीपति को कारखाना चालू रखने के लिये अलग पूँजी चाहिए ।

यह बिलकुल भी जरूरी नहीं है कि माल बेचने का काम कारखाने का मालिक ही करे । माल बेचकर रुपया वसूल करने का काम एक दूसरे पूँजीपति को सौंपा जाता है जो अपनी पूँजी उद्योग-धन्धों में न लगाकर व्यापार में लगाता है । यही व्यापारी पूँजी है ।

व्यापारिक पूँजीपति अपनी पूँजी बेचनेवाले का मेहनत लगाता है और मुनाफ़ा कमाता है ।

उसका अतिरिक्त अर्थ्य कहाँ से आता है ? क्या बेचनेवाले उसी प्रकार से अर्थ्य और अतिरिक्त अर्थ्य के स्रष्टा हैं जैसे मजदूर होते हैं ? बेचनेवालों का श्रम किस प्रकार का होता है ?

एक तो श्रम का प्रयोग वस्तुओं के सञ्चालन में होता है और दूसरा एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में, दुकानों में रखने में और उनको बाँधकर भेजने लायक बनाने में आदि ।

इसको स्पष्ट करने की आवश्यकता इसलिये है कि वस्तु के दौरे के लिये जो श्रम किया जाता है उससे न अर्थ्य की सृष्टि होती है न अतिरिक्त अर्थ्य की । एक मकान का उदाहरण ले लीजिए । इसका मालिक बदल सकता है लेकिन मकान के इटने की कोई जरूरत नहीं ।

हम देख चुके हैं कि अतिरिक्त अर्थ्य की वजह पूँजी या वस्तु का दौरा नहीं हो सकता । एक उदाहरण इस सिलसिले का भी दिया जा सकता है । एक पूँजीपति को लें लीजिये जो

फ़ैक्टरी का मालिक है और अपना माल खुद ही बेचता है। जितने ही मजदूरों को वह काम में लगायेगा उतना ही उत्पन्न वस्तुओं की तादाद बढ़ेगी और उसका मुनाफ़ा बढ़ेगा। बेचनेवालों की परिस्थिति बिलकुल भिन्न है। बेचनेवालों की तादाद बढ़ाने से उत्पन्न वस्तुओं की तादाद नहीं बढ़ सकती। इसके विपरीत बेचनेवालों की तादाद निर्भर है उत्पन्न वस्तुओं की तादाद पर और इस पर कि जितने माल की बिक्री होनी है। एक ओर तो पूँजीपति अपने कारख़ाने के हृद के अन्दर मजदूरों की तादाद बढ़ाना चाहता है और दूसरी ओर बेचनेवालों की तादाद बढ़ाना नहीं चाहता बल्कि घटाना ही चाहता है। बेचनेवालों की तादाद बमुक़ाबले मजदूरों के जिनका औद्योगिक पूँजीपति काम में लगाता है बहुत कम है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि वस्तु के सञ्चालन में जिस श्रम का प्रयोग किया जाता है उससे अर्थ या अतिरिक्त अर्थ की सृष्टि नहीं होती। लेकिन यहाँ यह कह रखना असंगत न होगा कि मुनाफ़े का हिस्सा औद्योगिक और व्यापारिक दोनों प्रकार के पूँजीपतियों को बराबर मिलता है। इसका कारण आगे बतलाया जायगा।

पिछले हिस्से में कहे गये श्रम के सिलसिले में यह कहना ज़रूरी है कि समाजवादी समाज में भी यह श्रम कायम रहेगा। क्योंकि यद्यपि उस समाज में व्यापार की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी और उत्पन्न वस्तुओं के बटवारे के लिये खरीद फ़रोख्त की ज़रूरत नहीं रहेगी फिर भी चीज़ों को एक जगह से दूसरी जगह भेजने की तथा दूसरी जगह भेजने के लिये उनको बाँधने-बँधने की ज़रूरत रहेगी। इसलिये इस प्रकार के श्रम का मूल्य वस्तु के उत्पादन के मूल्य में ही शामिल होना चाहिये।

व्यापारी के मुनाफ़े का

उद्गम

औद्योगिक पूँजीपति को यदि अपना माल स्वयं बेचना पड़े तो

उत्पादन के क्षेत्र से अपनी पूँजी कुछ हटा लेना पड़ेगा। वह यह भार व्यापारिक पूँजीपति पर छोड़ता है और हजारों मंम्फटों से मुक्ति पाता है। उसको पहला लाभ तो यह होता है कि व्यापारी उसकी चीजों को खरीद कर उसकी पूँजी लौटाल देता है ताकि वह फ़ौरन् ही उत्पादन के काम में जुट सके और दूसरा लाभ यह है कि अपनी चीजों को स्वयं बेचकर रुपया वसूल करने की परेशानी से वह बच जाता है।

इस प्रकार भ्रम और पूँजी के विभाग से वस्तुओं के सञ्चालन के खर्च में पूँजीवादी समाज काफ़ी किफ़ायत हासिल कर लेता है। यह किफ़ायत यों होती है कि व्यापारिक पूँजी का केन्द्रीकरण होता है और चीजों का खरीद फ़रोख्त तेज़ी से होता है। यदि औद्योगिक पूँजीपति स्वयं ही व्यापारी बन जाय तो अपनी पूँजी से अपने ही माल की बिक्री में लग सकता है और जिसकी सारी पूँजी व्यापार ही में लगी हुई है वह अपनी पूँज से कई कारख़ानों का माल बेच सकता है।

व्यापारी औद्योगिक पूँजीपति का माल बेचकर न केवल उसके लिये वस्तुओं का अर्घ्य दिला देता है बल्कि उसके लिये मुनाफ़ा भी वसूल कर देता है। वह इस काम को तभी करेगा जब इस मुनाफ़े का कुछ हिस्सा उसको भी मिले। औद्योगिक पूँजीपति भी अपने ही लाभ के लिये खुशी खुशी अपने मुनाफ़ा का कुछ हिस्सा व्यापारिक पूँजीपति के साथ बटा लेता है।

जिस रीति से व्यापारी को मुनाफ़े का हिस्सा मिलता है वह यह है। वस्तु कई हाथ बदल कर तब उपभोग करनेवाले के पास पहुँचता है। बनानेवाले के हाथ से यह थोक माल बेचनेवाले के हाथ जाता है, उससे जाता है छोटे दुकानदार के पास, उससे मिलता है ग्राहक को। हर सीढ़ी पर वस्तु का दाम कुछ बढ़ता है और इसका आखिरी मूल्य वही है जिस दाम पर यह

उपभोग करनेवाले के हाथ बिकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस वस्तु के अर्थ से मूल्य कहीं अधिक है। परन्तु वास्तव इसके विपरीत ही है। औद्योगिक पूँजीपति वस्तु को अपने अर्थ से कम पर व्यापारी के हाथ बेचता है। उसको इसमें नुकसान नहीं, वह केवल अतिरिक्त अर्थ का कुछ हिस्सा व्यापारी को दे देता है, क्योंकि वस्तु में न केवल उत्पादन के साधन और श्रम-शक्ति का अर्थ है बल्कि अतिरिक्त अर्थ भी उसमें शामिल है। व्यापारी वस्तु को उपभोग करनेवाले के हाथों पूरे अर्थ पर बेच कर अतिरिक्त अर्थ का वह हिस्सा वसूल कर लेता है जिसको औद्योगिक पूँजीपति ने वस्तु के दाम में शामिल नहीं किया था।

इससे यह सिद्ध है कि उत्पन्न वस्तुओं को बेचकर रुपया वसूल करने के काम के लिये पूँजीपति अपने अतिरिक्त अर्थ का कुछ हिस्सा व्यापारी को दे देता है और यही व्यापारी का मुनाफ़ा है।

मुनाफ़े के दर की सतह व्यापारी के मुनाफ़ा का परिमाण और मुनाफ़ा का दर किसके ऊपर निर्भर है और कैसे यह स्थिर करने में पूँजी का निर्धारित की जाती है। औद्योगिक स्थान पूँजीपतियों में प्रतियोगिता के कारण उत्पादन के सब क्षेत्रों में एक औसत मुनाफ़ा का दर कायम हो जाता है चाहे अलग अलग क्षेत्रों में अतिरिक्त अर्थ का परिमाण कितना ही क्यों न हो। अब हम यह देख सकते हैं कि अतिरिक्त अर्थ पैदा तो होता है अतिरिक्त श्रम के अनुपात में और इस पर निर्भर है कि कितनी श्रम शक्ति का खर्च होता है लेकिन इसका बटवारा निर्भर है इस बात पर कि किस क्षेत्र में कितनी पूँजी लगाई गई है।

चूँकि व्यापारिक पूँजीपति तिजारत में एक विशिष्ट परिमाण पूँजी लगाता है, सब पूँजीपतियों की तरह वह भी औसत मुनाफ़े का दर पाना चाहता है। यदि व्यापारिक पूँजी पर मुनाफ़े का

दर औद्योगिक पूँजी के दर से कम हो तो लोग अपनी पूँजी व्यापार में न लगा कर उद्योग धन्दों में ही लगायेंगे। व्यापारिक पूँजीपति भी अतिरिक्त अर्घ्य का औद्योगिक पूँजीपति का समान दावेदार है। औद्योगिक पूँजीपति भी उसको अतिरिक्त अर्घ्य का बराबर हिस्सेदार मानने के लिये मजबूर है। इस कारण मुनाफ़ा का औसत निकालने के लिये कुल पूँजी के जोड़ में औद्योगिक पूँजियों के साथ तिजारती पूँजी को भी शामिल करना चाहिए। एक अंक से यह और भी स्पष्ट हो जायगा—

औद्योगिक पूँजी = १०,००,००,००० करोड़ रुपये

अतिरिक्त अर्घ्य = १,००,००,००० करोड़ रुपया

मुनाफ़े का दर हुआ = $\frac{\text{अः अः}}{\text{पू}} \times १०० = १०$ सैकड़ा

लेकिन इसमें तिजारती पूँजी शामिल नहीं है। मान लीजिये तिजारती पूँजी है २ करोड़ ५० लाख। अब मुनाफ़ा का दर १० फीसदी न होकर होगा $\frac{१० \text{ करोड़}}{१ \text{ करोड़} + २\frac{१}{२} \text{ करोड़}} \times १०० = ८$

फीसदी

अतिरिक्त अर्घ्य में हिस्सा बटाने के कारण तिजारती पूँजी मुनाफ़ा के औसत दर को घटाती है।

औद्योगिक पूँजीपति मुनाफ़ा का हिस्सेदार तो है परन्तु मुनाफ़ा की सृष्टि में भी सहायक है लेकिन व्यापारी तो केवल लेता ही है देता कुछ भी नहीं। इस प्रकार सारे पूँजीवादी समाज के दृष्टिकोण से दौरे का खर्च और व्यापारी का मुनाफ़ा एक आवश्यक परन्तु अनुत्पादक खर्च है। और यह अनुत्पादक दो मानों में है। एक तो यह कि उत्पादन के क्षेत्र से कुछ पूँजी हटा लेनी पड़ती है और दूसरा यह कि किसी प्रकार के अर्घ्य की सृष्टि न करते हुए औद्योगिक पूँजी द्वारा सृष्ट अतिरिक्त अर्घ्य

का एक हिस्सादार बन जाता है । इसलिये पूँजीवादी समाज इस बात के लिये चेष्टित रहता है कि उत्पन्न वस्तुओं को बिक्री कर रुपया वसूल करने में कोई बाधा न डालकर तिजारत में लगाई गई पूँजी घटाई जाय ।

तिजारती पूँजी की रकम वस्तुओं के विनिमय के दौरे की तेज़ी के द्वारा घटाई जा सकती है । एक ही रकम से, मान लीजिये १ लाख रुपये से, व्यापार-चक्र एक बार भी चल सकता है और दस बार भी । लेकिन अगर खरीद बिक्री का चक्र एक बार न होकर दस बार होता है तो दसवाँ हिस्सा पूँजी की ही ज़रूरत रह जाती है । इस प्रकार तिजारत के लिये आवश्यक पूँजी की रकम घट जाने से अतिरिक्त अर्थ का वह हिस्सा भी घट जाता है जिसे औद्योगिक पूँजीपति को बाध्य होकर व्यापारी को दे देना पड़ता है ।

इसलिये व्यापारी वर्ग तो तिजारत के चक्र के रफ़्तार को बढ़ाना नहीं चाहता बल्कि धीमा ही करना चाहता है लेकिन व्यक्तिगत रूप से व्यापारी रफ़्तार तेज़ ही करना चाहता है क्योंकि फिर उतनी ही पूँजी पर वह व्यापार के ज़्यादा हिस्से पर प्रभुत्व पा सकता है और उसके मुनाफ़े के रकम की वृद्धि हो जाती है । यह वैसा ही है जैसे कि औद्योगिक पूँजीपति को नई मशीनों के आविष्कार से व्यक्तिगत रूप से लाभ होता है यद्यपि इससे मुनाफ़ा का दर घट जाता है ।

हर मुल्क में और व्यापार के हर क्षेत्र में व्यापार चक्र का यानी किसी दुकान विशेष के सारा माल के बिक जाने का एक औसत रफ़्तार होता है और जिस किसी व्यापारी का व्यापार-चक्र इससे तेज़ होता है उसको औसत से ज़्यादा मुनाफ़ा मिलता है । यही कारण है कि व्यापारी श्रेणी अपनी-अपनी पूँजियों के रफ़्तार को बढ़ाने में चेष्टित रहते हैं ।

हम देख चुके हैं कि बेचनेवालों के शोषण के श्रम से न तो अर्थ की सृष्टि होती है और न अतिरिक्त अर्थ की। फिर बेचनेवालों का शोषण किस प्रकार से होता है ?

इन प्रश्न के उत्तर के लिये हमें यह जानने की जरूरत है कि व्यापार क्रिया में बेचनेवाले का स्थान क्या है। व्यापारी को अपनी पूँजी के अनुपात में मुनाफ़ा मिलता है। परन्तु बिना बेचनेवालों की मदद के उसकी पूँजी का लाभ वह नहीं उठा सकता और पूँजी जितनी अधिक होगी बेचनेवालों की तादाद उतनी अधिक होगी। इस तरह यद्यपि बेचनेवाले के श्रम से अतिरिक्त अर्थ की सृष्टि नहीं होती है तथापि व्यापार में पूँजी के संयोग के लिये इसका सहारा अत्यावश्यक है।

बेचनेवालों की जरूरत तो है लेकिन इस खर्च को व्यापारी कम-से-कम रखना चाहता है। व्यापारी बेचनेवाले को इतना ही देना चाहता है जिससे उसकी श्रम-शक्ति कायम रहे; इससे अधिक वह जितनी मेहनत करता है उसके द्वारा वह औद्योगिक पूँजीपति के मुनाफ़े पर ज़्यादा हिस्सा बटाता है।

पूँजीवाद के विकास के साथ बेचनेवाले की हालत और भी खराब होती जाती है; कारण यह है कि बेचने और हिसाब रखने के कायदे इतने सरल होते जाते हैं कि बेचनेवाले के हुनर की कदर जाती रहती है और शिक्षा की तरक्की के साथ बेचनेवालों की तादाद और उनमें प्रतियोगिता बढ़ जाती है।

पूँजीवाद के उच्चतम विकास में सहयोग या समवाय का भी छोटे पैमाने के पैदावार के पुराने मुनाफ़ा तरीके कायम रहते हैं। इस तरह के पैदा करनेवाले अधिकांश व्यापारियों की पूँजी पर निर्भर रहते हैं। छोटे उत्पन्नकारियों और व्यापारियों के बीच का सम्बन्ध बहुत

प्रकार से होता है, जैसे इनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओं की बिक्री के द्वारा, कच्चे माल की खरीद से और इनके भोग करनेवालों की स्थिति और हैसियत से ।

सब छोटे-छोटे पैदा करनेवाले अपने वस्तुओं के पैदा करनेवाले के सिलसिले में, कच्चा माल के खरीदार की हैसियत से और जीवनधारण की सामग्रियों के खरीदार की हैसियत से व्यापारी पूँजी के संस्पर्श में आते हैं । व्यापारी जब पूँजीपति को मिलता है तो उसकी बराबरी पर ही मिलता है, लेकिन छोटे पैमाने पर पैदा करनेवाला जब व्यापारी को मिलता है तब उसकी हालत उससे नीचे गिरी हुई होती है । इस बात का फ़ायदा उठाकर कि छोटे उत्पादनकारी को हर समय रुपये की ज़रूरत रहती है । उसको बाज़ार के विषय में अच्छा ज्ञान नहीं, आदि, व्यापारी उससे तिजारती माल सस्ता खरीदता है, उसको जीवन धारण की सामग्री और उत्पादन का साधन मनमानी दाम पर बेचता है और इस प्रकार उसके शोषण के द्वारा अतिरिक्त मुनाफ़ा प्राप्त करता है । इस रीति से छोटे उत्पादनकारी का अतिरिक्त-अर्थ्य व्यापारी का मुनाफ़ा बन जाता है ।

तिजारती पूँजी के शोषणक्रिया से बचने के लिये मज़दूर और छोटे उत्पादनकारी समवाय या सहयोग समिति क़ायम करते हैं । ये समितियाँ अपने सदस्यों के लिये सस्ते दाम पर कच्चा माल और आहार आदि की सामग्रियाँ खरीद देती हैं और उनके बने हुए वस्तुओं को उचित दाम पर बेच देती हैं ।

मज़दूर विशेष तौर पर भोग करनेवालों की समवाय समिति के सदस्य होते हैं । इन समितियों के सदस्य को मामूली चन्दा देना पड़ता है । एक साधारण बैठक में इसकी कार्यकारिणी का चुनाव होता है । हिसाब जाँच करने के लिये और सञ्चालन के लिये भी एक कमेटी नियुक्त की जाती है, । समवाय के कारोबारों

द्वारा उपार्जित मुनाफ़ा के बटवारे के विभिन्न उपाय हैं। या तो कारोबार के वस्तुसदस्यों को सस्ते दाम पर दिया जाता है या बाज़ार दर पर ही दिया जाता है परन्तु साल के अन्त में उनकी ख़रीदारी के अनुपात में मुनाफ़े का हिस्सा दिया जाता है।

सहयोग समिति का मुनाफ़ा व्यापारी के मुनाफ़ा के अलावा और कुछ नहीं है। पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों का यह कहना कि इस मुनाफ़ा का कारण यह है कि समितियाँ माल सस्ता ख़रीदती हैं शलत है क्योंकि यह तभी सम्भव है जब चीज़ें अपने अर्ध्य से कम पर बेची जायँ और ऐसा होने से समितियाँ ज़्यादा दिनों तक चल नहीं सकतीं। व्यापारी की तरह ये समितियाँ भी औद्योगिक पूँजीपति से वस्तु लेती हैं और ये उनको वस्तु के अर्ध्य से कम पर बेचते हैं। इस प्रकार से प्राप्त अतिरिक्त अर्ध्य के हिस्से को ये समितियाँ अपने सदस्यों में किसी न किसी रूप में बाँट देती हैं।

बने हुए माल की बिक्री के लिये जो समवाय समितियाँ बनती हैं उनके मुनाफ़ा का उद्गम यही है कि उनके माल की बिक्री व्यापारी के मारफ़त नहीं होती। इस क्षेत्र में भी व्यापारी को जो मुनाफ़ा होता है वही समिति का मुनाफ़ा है। व्यापारी के मुनाफ़े की बचत को समिति अपने सदस्यों में बाँट देता है।

ये सहयोग समितियाँ छोटे उत्पादनकारियों को व्यापारिक पूँजी की गुलामी से रक्षा करते हैं और मज़दूरों के जीवन को उन्नत बनाने में कुछ मदद करते हैं। लेकिन पूँजीवाद इस उन्नति के रास्ते में बहुत बड़ा बाधक है। मज़दूरों के जीवन धारण की सामग्रियाँ सस्ता हो जानी पर श्रम-शक्ति का अर्ध्य और मूल्य घट जाता है और पूँजीपति मज़दूरों की मज़दूरी घटा देता है। इसलिये सहयोगसमितियों के लाभ को मज़दूर तभी क़ायम रख सकता है जब वह अपने को व्यवसाय संघ और राजनैतिक पार्टियों द्वारा भी सुरक्षित रखे।

इसके अलावा यह भी देखा गया है कि ये समवाय समितियाँ छोटे और मध्यम श्रेणी के पूँजीपतियों की जन्मभूमि का जन्मस्थल होती हैं। छोटे उत्पादनकारियों के खुशहाल हिस्से इन्हीं समितियों के ज़रिये पूँजीपतियों की सीढ़ी पर चढ़ने लगते हैं।



सातवाँ अध्याय

लेनदेन की पूँजी और कर्ज

कर्ज और कागज़ का रुपया तथा सूद

हम अब उस प्रक्रिया की छानबीन कर रहे हैं जिसमें अतिरिक्त अर्थ के विभाजन में वह हिस्सा पैदा होता है जिसका मालिक न तो औद्योगिक पूँजीपति है न व्यापारिक पूँजीपति बल्कि वह जिसकी पूँजी रुपया है। और जिसको सूद कहते हैं। पूँजीवाद के विकास के उस अवस्था में जिसमें रुपया पूँजी बन जाता है सूद का आविर्भाव होता है। इसलिये पूँजी के दौरे में रुपयों की पूँजी का क्या स्थान है, यह जानना ज़रूरी है।

अतिरिक्त अर्थ की प्राप्ति के हेतु वस्तुओं का उत्पादन आरम्भ करने के लिये पूँजीपति को रुपया चाहिए। पूँजीवादी समाज की हालत में इस अतिरिक्त अर्थ का रूप रुपया ही होता है। इसलिये रुपया से ही कारोबार शुरू होता है और रुपया पर ही

कारोबार खत्म होता है। पूँजी के दौरे की गति यदि अबाध कायम रखनी है तो यह आवश्यक है कि हर प्रकार की पूँजी का रुपया बनाया जा सके और रुपया को पूँजी में परिणत किया जा सके।

पूँजीवादी समाज में रुपया रखने के माने न केवल यह है कि इसके बदले में इसके मालिक को समान मूल्य का वस्तु मिल सकता है बल्कि वह मुनाफ़ा पाने का हक़दार बन जाता है और अतिरिक्त अर्ध्य का हिस्सेदार हो जाता है। रुपया न केवल अर्ध्य का सार्वजनिक रूप हो जाता है बल्कि पूँजी का भी सार्वजनिक रूप ग्रहण करता है। साधारण विनिमयात्मक आर्थिक संगठन में रुपये का जो काम है उसके अलावा एक नया काम इसके सुपुर्द हो जाता है—वह है धन-पूँजी का काम।

इसलिये मुनाफ़ा के पीछे जो दौड़ता है वह रुपया के पीछे दौड़ता है अर्थात् पूँजी के पीछे दौड़ता है। जिसका यह सार्वजनिक रूप है। अतिरिक्त अर्ध्य हासिल करने के लिये यह काफ़ी है कि पूँजीपति के पास धन-पूँजी हो, हमेशा के लिये नहीं, सिर्फ़ एक सीमित समय के लिये जिस दमर्यान वह इसको उत्पादन-कार्य में लगा सके, वस्तु पैदा कर सके और इनका अर्ध्य वसूल कर सके।

जब कोई अपना रुपया दूसरे को सीमित समय के लिये व्यवहार करने को देता है तो उस क्रिया को लेनदेन कहते हैं। यहाँ हम लेनदेन के उस रूप पर विचार कर रहे हैं जिसमें कर्ज़ लिया गया रुपया धन पूँजी का काम करता है यानी अतिरिक्त अर्ध्य हासिल करने का साधन बन जाता है।

बेकार पूँजी

यह बतलाया जा चुका है कि स्थिर पूँजी हर उत्पादन चक्र में अपने अर्ध्य का केवल एक अंश वस्तुओं को दे देती है।

मशीनों की रगड़ घिस के एवज़ में जो रुपया किसी उत्पादन चक्र में उत्पन्न माल की बिक्री से पूँजीपति वसूल पाता है तब तक बेकार रहता है जब तक कि पुरानी मशीन बिलकुल घिस नहीं जाती है और उसकी जगह नई मशीन बैठाई जाती है या इतनी रकम मिल जाय जिसके द्वारा नई मशीनें और इमारत खरीदकर उत्पादन में वृद्धि की जाय। इस बीच में पूँजीपति का रुपया बेकार पड़ा रहता है।

कुछ रुपया तो यों भी काम में आ सकता है कि पुरानी मशीनों से ही ज़्यादा माल पैदा किया जाय और इस उद्देश्य से श्रम-शक्ति और कच्चे माल की खरीद की जाय। उदाहरण के लिये अगर मिल रात को भी चालू किया जाय तो उसी पुरानी मशीन पर नया कच्चा माल और मज़दूर लगाये जा सकते हैं और इस तरह बेकार रुपये के एक हिस्से से पैदावार बढ़ाई जा सकती है। लेकिन बेकार रुपये का एक बहुत (अल्प) छोटा अंश ही इस प्रकार आ सकता है और अधिकांश बेकार ही रहता है।

पूँजी के उस हिस्से का भी एकांश बेकार रह सकता है जो कच्चा माल और श्रम-शक्ति खरीदने में इस्तेमाल किया जाता है। यह अंश बेकार इसलिये हो जाता है कि पूँजीपति कारोबार चलाने के पहले कुछ फ़ालतू रुपया इस कारण रखता है कि सारा उत्पन्न माल बिकने के समय तक उसका मिल या कारोबार बन्द न हो जाय और वह उत्पादन क्रिया को जारी रखना चाहता है परन्तु उत्पन्न माल अगर अन्दाज़ के समय से पहले बिक जाय तो यह फ़ालतू रुपया बेकार हो जाता है।

जिस रुपये से पूँजीपति मज़दूरी देता है उसका प्रयोग भी वह चाहे जैसे कर सकता है यद्यपि बहुत ही थोड़े समय के लिये क्योंकि वह हफ़्तावारी या माहवारी मज़दूरी देता है। अतिरिक्त अर्घ्य का भी जो उसको मिलता है वह इच्छानुसार प्रयोग करता है।

यदि वह उसको अपने काम के लिये इस्तेमाल न करे तो उसको कुछ समय के लिये इन्तज़ार करना पड़ेगा जब तक इतनी रकम न इकट्ठा हो जाय कि पैदावार में यह लगाया जा सके ।

इस प्रकार विभिन्न कारणों से जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है कुछ रुपया हर समय ही बेकार रहता है और जो लेन-देन के काम में आता है ।

सूद

जब सीमित समय के अन्दर व्यवहार के लिये कोई पूँजीमति रुपया उधार लेता है तो वह इसको उत्पादन के विस्तार के काम में और नया अतिरिक्त अर्थ पैदा करने के काम में लगाता है । कर्ज़ देने वाला कर्ज़ तभी दे सकता है जब उसको इस अतिरिक्त अर्थ का कुछ हिस्सा मिले ।

जब इस प्रकार कर्ज़ दिया जाता है तो इसको लेनदेन की पूँजी कहते हैं और कर्ज़ देनेवाले को अतिरिक्त अर्थ का जो हिस्सा मिलता है उसको सूद कहते हैं ।

सूद का दर

पूरे कर्ज़ के रकम के जिस अनुपात में कर्ज़ देनेवाले को मुनाफ़ा मिलता है उसको सूद का दर कहते हैं । इसका दर कैसे निश्चित किया जाता है ? सूद अतिरिक्त अर्थ का ही एक हिस्सा होने के कारण यह तो स्पष्ट ही है कि अधिक से अधिक सूद उतना ही हो सकता है जितना कि लेनदेन की पूँजी का अतिरिक्त अर्थ हो । सारे समाज के लिये अधिक से अधिक सूद हो सकता है औरत मुनाफ़ा के समान ।

विशेष क्षेत्रों में सूद औरत दर से ऊँचा हो सकता है । उदाहरण के लिये यदि किसी पूँजीमति को अपनी पूँजी पर मुनाफ़ा न मिलता दीखता हो तो वह काफ़ी सूद पर रुपया उधार ले सकता है ताकि उसके मुनाफ़ा में घाटा न हो । ऐसा भी हो

सकता है कि अतिरिक्त मुनाफ़ा की आशा पर वह ज़्यादाह सूद देने को तैयार हो जाय ।

लेकिन साधारण तौर पर ऐसा होता नहीं । क्योंकि उस हालत में कुछ पूँजी उद्योग धन्दों से उठकर लेनदेन की पूँजी बन जाती और सूद का दर घट जाता । सामाजिक पैमाने पर सूद के दर की सीमा मुनाफ़ा के दर की औसत होगी । साधारणतः यह सीमा से नीचे ही रहेगी क्योंकि जो कर्ज़ लेता है वह कर्ज़ के रकम से उत्पन्न अतिरिक्त अर्घ्य का अधिकांश ही स्वयं हज़म कर लेता है और अल्पांश कर्ज़ देनेवाले के लिये छोड़ता है ।

कम से कम सूद क्या हो सकता है ? यह शून्य नहीं हो सकता ।

इन दोनों सीमाओं के अन्दर सूद का उतार चढ़ाव कर्ज़ की माँग और उसकी पूर्ति पर निर्भर है । लेनदेन की पूँजी जितनी अधिक होगी सूद उतना ही कम होगा और यह पूँजी जितनी कम होगी सूद उतना ही अधिक होगा ।

पूँजीवाद के विकास के साथ औसत मुनाफ़े का दर गिरता रहता है और इसलिये सूद के दर का भी उतार यानी नीचे की सोमा की ओर जाना अवश्यम्भावी है । इसके अलावा पिछड़े हुए मुल्कों में जहाँ आसत मुनाफ़े का दर अधिक है सूद का भी दर अधिक है ।

अधिकांश पूँजीपतियों के मुनाफ़ा और औसत मुनाफ़ा के बीच का अन्तर फिर भी अधिक होता है लेकिन सूद के दरों का अन्तर बहुत कम होता है । इसका कारण यही है कि लेनदेन की पूँजी के प्रयोग क्षेत्रों का परिवर्तन आसानी से हो सकता है लेकिन औद्योगिक पूँजी के लिये इतनी आसानी से क्षेत्र परिवर्तन सम्भव नहीं । औद्योगिक पूँजी के प्रयोग क्षेत्रों में जितनी वैचित्रता है लेनदेन की पूँजी के प्रयोग में उसका अल्पांश भी

वैचित्र्यता नहीं है, इसलिये, और इसलिये भी कि लेनदेन के पूँजीपतियों को कर्ज की माँग और पूर्ति का बेहतर अनुमान रहता है। सूद का दर अधिक निश्चित रहता है।

औद्योगिक और व्यापारिक पूँजी की तरह धन पूँजी का एक विशेष प्रकार की पूँजी बन जाती है। व्यापारियों की तरह धन-पूँजियों की एक श्रेणी बन जाती है जिनका काम होता है दूसरों को कर्ज देना और सूद वसूल करना। जैसे इतिहास में औद्योगिक पूँजी के पहले तिजारती पूँजी का आविर्भाव होता है उसी प्रकार धन पूँजी का भी आविर्भाव होता है। मुद्रा के आविर्भाव के साथ ही धन पूँजी का आविर्भाव सम्बन्धित है।

पहले के युग के सूद में और आज के सूद में कुछ अन्तर है। पहले लोग रुपया इकट्ठा करते थे और जब दूसरा कोई रुपया उधार लेता था तो वह कुछ मुआवज़ा देता था जिसको सूद कहा जा सकता है। आज के सूद के माने हैं छोटे उत्पादनकारियों का शोषण। न केवल इनके द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त अर्थ को ही पूँजीपति हड़प करता है बल्कि उनके जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक वस्तुओं का भी एक अंश वह हड़प कर लेता है। लेकिन चूँकि धन-पूँजी के कारण उत्पादन का विस्तार होता है, इसलिये जब कभी धन-पूँजी का मालिक अतिरिक्त अर्थ का हिस्सेदार बन जाता है, उसको एक अंश औद्योगिक पूँजीपति को दे देना पड़ता है।

पूँजीपति मुनाफ़ा का हिसाब लगाते समय अपनी पूँजी पर सूद को इससे घटा देता है और इस प्रकार से जो मुनाफ़ा का अंक निकलता है वही उसके लिये खालिस मुनाफ़ा है।

आठवाँ अध्याय

कर्ज और बंक

यदि लेन-देन की प्रथा न होती तो धन-पूँजी को औद्योगिक पूँजी में रूपान्तरित होने में बहुत बंक और तिजारती कर्ज़ा विलम्ब लगता और इस क्रिया में बहुत रुकावट पड़ती। बचे हुए रुपये खाली पड़े रहते जब तक न कि इतना लम जाता कि उससे नई मशीनें और इमारतें आदि खरीदी जा सकतीं।

यही नहीं कि लेन-देन की पूँजी के अभाव में बचे हुए रुपये का प्रयोग औद्योगिक पूँजी के रूप में नहीं किया जा सकता बल्कि उत्पादन क्रिया में भी काफ़ी रुकावट पड़ती क्योंकि उत्पन्न माल सारा का सारा एक साथ बिक नहीं सकता है और वस्तुओं के रूप में पूँजी अटकी पड़ी रहती है।

पुराना माल बिक जाने तक उत्पादन क्रिया रुकी न रहे इस-लिये पूँजीपति को अधिक पूँजी चाहिए। पुराना माल बिक कर

जब तक रुपया वसूल न हो जाय तब तक ये मरी हुई पूँजी होता है। जितनी जल्दी ये बिक जायँ पूँजीपति के लिये अधिक पूँजा के परिमाण की उतनी ही कम आवश्यकता है।

लेन-देन की पूँजी का दोनों ही काम होता है—बचत के रुपये में इतनी वृद्धि कर देना कि उत्पादन का दायरा बढ़ जाय और जब तक उत्पन्न माल की बिक्री न हो जाय तब तक उत्पादन क्रिया को जारी रखना।

यह होता कैसे है? मान लीजिये कि पूँजीपति के पास तैयार माल है, समझ लीजिये छींट का कपड़ा। बहुत से कारण हैं जिससे वह एकायक उनको बेच नहीं सकता। अब उत्पादन क्रिया चालू रखने के लिये उसको कोयले की ज़रूरत है और कोयला उसको मिलता नहीं क्योंकि उसके पास रुपया नहीं है। एक ओर उसके पास वस्तु है बिकने के लिये और दूसरी ओर उसको आवश्यकता है कोयले की और केवल रुपये के माध्यम की ताकि दोनों का विनिमय हो सके। हाँ, यदि कोयले का मालिक इन्तज़ार करने के लिये तैयार है जब तक कि छींट के कपड़े बिक न जायँ तब तो कारोबार चल सकता है! नक़द देने के बजाय वह एक निश्चित समय के बाद देने का वादा करता है। इस प्रकार से वस्तुओं के दौरे का समय घट जाता है और उसको उत्पादन क्रिया जारी रखने के लिये अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं होती।

इस प्रकार के क़र्ज़ को जो वस्तुओं के दौरे में सहायक होती है और उत्पन्न माल (जो बिक नहीं पाती) को पूँजा के दौरे के मार्ग में रोड़ा नहीं बनने देती, तिजारती क़र्ज़ कहते हैं।

उस क़र्ज़ को, जो बचत के रुपये को उद्योग के उपयोगी बनाती है और परती पूँजी को ज़रखेज़ बनाती है, बंक क़र्ज़ कहते हैं।

क्रज की जमानत
विनिमय का बिल

ऐसा हो सकता है कि व्यक्तिगत विश्वास पर एक पूँजीपति दूसरे को क्रज दे सकता है लेकिन साधारण-तया वह जमानत लेकर क्रज देता है चाहे उस जमानत की शकल कुछ हो। जब क्रज लेनेवाला लिखित दस्तावेज में एक निश्चित समय के अन्दर क्रज अदा करने का वादा करता है तो उसको साधारण विनिमय का बिल कहते हैं।

वह विनिमय का बिल जिसमें क्रज लेनेवाला खुद क्रज अदा करने का वादा नहीं करता बल्कि दूसरे पर अपनी यह जिम्मेदारी डालता है उसको ड्राफ्ट कहते हैं। जैसे कपड़े के कारखाने का मालिक कोयले के खान के मालिक से १०,००० रुपये का कोयला क्रज पर लेता है और अपना कपड़ा दूसरे व्यापारी के हाथ बेचता है इस वादे पर कि रुपया बाद में मिलेगा यानी विनिमय का बिल लेकर, तो इसको बतौर ड्राफ्ट के वह कोयले के मालिक को दे सकता है।

जब इस ड्राफ्ट पर उसका दस्तखत हो जाता है जो अन्तिम दर्जे पर रुपया देनेवाला है तो यह जमानत का काम करता है। विनिमय के बिल में शिरकत दो की होती है ड्राफ्ट में कम से कम तीन की। लेकिन ड्राफ्ट का विस्तार हो सकता है और इसमें तीन से ज्यादा की शिरकत हो सकती है। विनिमय का बिल सरकारी कागज पर लिखा जाता है। विनिमय के 'बिल' से पूँजी के दौरे में आसानी होती है और बिना नक़द के ही पूँजीपतियों का आपसी हिसाब तय हो जाता है।

डिस्काउन्ट

विनिमय का बिल आइन्दा क्रज अदा करने का वादा होता है। यदि जिसके पास विनिमय का बिल है उसको फ़ौरन रुपये की ज़रूरत है तो वह एक दूसरे पूँजीपति को अपना बिल दस्तखत करके दे देता

है। पूँजीपति बिल के तारीख तक इन्तज़ार करता है और तब उसको बिल के रुपये मिल सकते हैं। तारीख के पहले बिल भुनवाने को डिस्काउन्ट करना कहते हैं।

यह तो सहज ही समझा जा सकता है कि धन-पूँजिक विनिमय के बिल के बदले पूरा रुपया नहीं देता है। वह एक रकम अपने पास रख छोड़ता है जिसको डिस्काउन्ट सूद कहते हैं। इस कारोबार में वह बिल के मालिक को कुछ समय के लिये एक निश्चित रकम उधार देता है और बिल का भुनाना एक प्रकार का लेन-देन हुआ। यह बिल के भुनाने का काम बिल का असली लिखनेवाला स्वयं भी कर सकता है। इस प्रकार बिल का भुनाना लेनदेन की हद को बहुत बढ़ा देता है और बक कर्ज़ और तिजारती कर्ज़ का एक सम्बन्ध स्थापित करता है।

बैंक

अभी तक कर्ज़ का प्रत्यक्ष रुपया

जो कुछ व्यक्तियों के बीच महवूद था। लेकिन यह सीधा कर्ज़ उनके दरम्यान जिनके पास बचत का रुपया है और जिनको रुपये की ज़रूरत है सब समय सम्भव नहीं। इसीलिये बैंक की ज़रूरत होती है जो दोनों पक्षों की ओर से दलाल का काम करता है और जो कर्ज़ का व्यापार चलाता है।

हर पूँजीपति के बचत का सामान्य बेकार धन का परिमाण एकत्रित होने पर बैंक में एक भारी खज़ाना जमा हो जाता है जो काफ़ी समय के लिये सूद पर उधार दिया जा सकता है क्योंकि रुपया जमा करनेवालों में से हर एक को एक साथ रुपया निकालने की ज़रूरत नहीं पड़ती। हर बैंक के यही दो मुख्य काम हैं—एक तो रुपया जमा करना और दूसरा रुपया उधार देना।

बैंक की कुछ मूल पूँजी होती है जिसके मालिक थोड़े से पूँजीपति होते हैं। इसके अलावा बक की कुछ रिज़र्व पूँजी होती है जो सालाना मुनाफ़ा का एक हिस्सा होता है और जो बैंक का

कारोबार बढ़ाने के काम आता है। अब बक में रुपया जमा होता है जिसको जमापूँजी कह सकते हैं। बेकार धन के मालिक अपना अपना रुपया बंक में जमा करते हैं। रुपया जमा दो प्रकार से होता है, एक, जिसमें जमा करनेवाला रुपया जब जी चाहे निकाल ले सकता है और दूसरा, जिसमें जमा करनेवाला अपनी रज़ामन्दी इस बात पर देता है कि एक निश्चित तारीख से पहले वह रुपया नहीं निकालेगा।

यह तो सहजसिद्ध है कि बक उनको ज़्यादाह सूद देगा जो एक निश्चित तारीख से पहले अपना रुपया नहीं निकालेंगे क्योंकि दूसरों के लिये बंक को काफ़ी रुपया तैयार रखना पड़ता है ताकि रुपयों की माँग होते ही वह असल जमा अदा कर सके।

बिना तिथि के रुपया जमा करनेवाले चालू हिसाब में अपना रुपया जमा करते हैं और जब चाहे अपना रुपया निकाल सकते हैं। इनका कारोबार बहुत सारा चेक के ज़रिये होता है। चेक के ज़रिये एक व्यक्ति अपना रुपया दूसरे को दे सकता है और इस प्रकार बिना रुपया लिये दिये ही लोगों का हिसाब चुकता हो सकता है। बंकों में आपस में भी कारोबार होता रहता है और यदि दो व्यक्तियों का हिसाब दो बंकों में है तो भी उनका हिसाब किताब हो सकता है।

लाखों करोड़ों मज़दूर-किसानों के बचत की छोटी छोटी रकमों को जमाकर पूँजीपति बड़े बड़े बंक चलाता है और उनको नगण्य सूद देकर खुद मोटे रकम का मुनाफ़ा कमाता है।

बंक अपने जमा रुपये का क्या करता है ? बिना पर्याप्त जमानत के बंक किसी को रुपया नहीं दे सकता। एक तो विनिमय के बिल का हिसाब होता है। इस बिल का मालिक बंक से बिल भुनाता है और कुछ बढ़ा देने पर बिल का रकम उसको मिल जाता है। बिल का रुपया वसूल करने की ज़िम्मेदारी बंक लेता

है। इस क्षेत्र में विनिमय का बिल ही ज़मानत है। यदि निश्चित तिथि पर बिल का रुपया न मिले तो बंक को हक है कि जिन वस्तु-समूहों की बुनियाद पर बिल लिखी गई है उनको वह ले ले और इस प्रकार रुपया वसूल पाये।

गिराह रखकर भी बंक रुपया उधार दे सकता है। पहले ज़माने की तरह केवल सोना, हीरा, जवाहरात रखकर ही नहीं बल्कि कागज़ात की बुनियाद पर भी रुपया उधार दिया जाता है।

वस्तुओं को ज़मानत पर भी रुपया उधार मिल सकता है। कोई ज़रूरी नहो कि वस्तु-समूह बंक की इमारत में ही रक्खा जाय। किसी आदत में यह जमा किया जा सकता है जिसका रसीद उसको मिलता है। इस रसीद के बिना उसको सामान वापस नहीं मिल सकता। जब बंक में वह यह रसीद जमा करता है तो इसकी ज़मानत पर उसको रुपया उधार मिल सकता है।

रेल या जहाज पर भी जब माल रवाना किया जाता है तो उनकी रसीद के बिना पर भी रुपया उधार मिल सकता है।

जमीन या इमारत की ज़मानत पर भी रुपया उधार दिया जाता है। ये ही मुख्य ज़मानत हैं।

इन दोनों कामों के अलावा बंक एक और काम भी करता है। जैसे एक शहर के बाशिन्दे के कर्ज़ का रकम दूसरे शहर के बाशिन्दे से वसूल करना इत्यादि। इस काम के लिये बंक को अलग से कमीशन मिलता है।

बंक का मुनाफ़ा क्या है? बंक रुपया जमा करनेवाले को सूद देता है और सूद लेकर ज़मानत पर रुपया कर्ज़ देता है। इन दोनों सूदों का अन्तर ही बंक का मुनाफ़ा है। यह मुनाफ़ा भी साधारण मुनाफ़ा के औसत के लगभग ही होगा नहीं तो लोग बंकों में अपनी पूँजी न लगाकर उद्योग-धन्दों में लगायेंगे।

नवाँ अध्याय

क़र्ज़ नोट और काग़ज़ के रुपये

हमने देख लिया कि कई सौदों के दम्याँन एक विनिमय का बिल रुपये की तरह वस्तुओं के दौरे के माध्यम का स्थान लेता है। इसी तरह चेक भी रुपया की जगह ले सकता है। विनिमय के बिल को चुकाने की ज़िम्मेदारी होती है उस पर जिसके नाम बिल चढ़ाया जाता है और चेक पर रुपया देने का ज़िम्मेदार होता है बैंक।

जैसे पूँजीपति नक़्द की जगह चेक से काम लेता है, बैंक के क़ब्ज़े में काफ़ी रुपया होने के कारण, बैंक भी अपने ग्राहकों को नोट देता है जो किसी समय भुनाये जा सकते हैं। चेक की तरह बैंक नोट भी हाथों हाथ रुपये की जगह घूम सकता है जब तक यह बैंक को वापस न लौट जाय।

बैंक नोट भी किसी ज़मानत ही पर दिया जा सकता

है । विनिमय का बिल भी इस ज़मानत का काम कर सकता है ।

बैंक नोट काफ़ी समय तक चालू रहता है और सब नोट एक साथ भुनाये नहीं जाते ; इसलिये बैंक की उस पूँजी का जिसके बिना पर नोट निकाले जाते हैं, एक हिस्सा दूसरे काम में लगाया जा सकता है । दूसरे शब्दों में उन बैंक नोटों की रक़म जो भुनाये न गये हों एक प्रकार का कर्ज़ है जो बिना सूद बैंक को मिलता है । नोट निकालने का बैंक को यह बहुत बड़ा फ़ायदा है । बैंक नोट निकालने के इस अधिकार का दुरुपयोग न कर सके इसलिये इसको नियंत्रित रखने के लिये सरकारी नियमन की आवश्यकता है, क्योंकि अन्यथा यह कठिनाई पैदा हो सकती है कि नोट भुनाने के लिये बैंक के पास रुपये न रहें । सरकार यह निश्चय करती है कि बैंक अधिक से अधिक कितने नोट निकाल सकता है और नोटों के किस अनुपात में ज़मानत के तौर पर सोना रखना पड़ेगा । इस नियन्त्रण के सिलसिले में सरकार बैंकों के मुनाफ़ा का एक हिस्सेदार भी बन जाती है ।

बैंक नोट और मुद्रा बैंक नोट एक प्रकार का कर्ज़ नोट है जो मुद्रा का काम करता है ।

लेकिन मुद्रा का सब काम नोट नहीं कर सकता । मुख्यतः मुद्रा के चार काम हैं । (१) अर्घ्य का परिमाण नापना, (२) वस्तुओं के दौरे का साधन बनना, (३) अदायगी के साधन का काम करना, तथा (४) जमा करने के काम आना । इसमें से (२) और (३) का काम तो नोट कर सकता है लेकिन (१) और (४) का काम नहीं कर सकता । (२) और (३) धन-पूँजी का काम है और अतिरिक्त अर्घ्य पैदा करने की प्रक्रिया में एक सीढ़ी मात्र है ।

बंक नोट स्वतः कोई चीज़ नहीं है। यह मुद्रा, वस्तु आदि का प्रतीक मात्र है। वास्तव-अर्थ का यह क्षणिक एवज़ी है। इसलिये नोट दूसरे वस्तुओं के अर्थ को निर्धारित नहीं कर सकता। विपरीत इसके जिन वस्तुओं के अर्थ का यह प्रतीक है उन्हीं के द्वारा इसका मूल्य निर्धारित होता है। सोना चाँदी से ही वस्तुओं के अर्थ का परिमाण किया जाता है। इस काम में नोट सोना चाँदी की जगह नहीं ले सकता; क्योंकि सोना, चाँदी के प्रतीक के नाते नोट का कोई अलग अर्थ नहीं होता। इसका अर्थ सोना चाँदी के अर्थ के ऊपर ही निर्भर है। साथ ही बक नोट कोई जमा नहीं करता; जिसका जमा करना होता है वह सोना चाँदी ही जमा करता है।

बंक अपने तिजारती कारोबार में नोटों का इस्तेमाल कर्ज़ उधार के रूप में करते हैं। इन नोटों का आपसी विनिमय हो सकता है। इसको लेने के लिये कोई बाध्य नहीं है।

राष्ट्र को जब सरकार के ऊपर पावना चुकाना होता है तो वह नोट निकालता है जिससे राष्ट्र के खज़ाने को कुछ आमदनी हो जाती है। इन नोटों का विनिमय नहीं हो सकता है और हर एक इसको लेने के लिये बाध्य है।

कागज़ के रुपये के

खरीदने की ताकत

कर्ज़ नोट उतने ही निकाले जाते हैं

जितनों की ज़मानत बक में होती है।

बंक नोटों की तादाद इस पर निर्भर है

कि दोरे में कितने रुपयों की माँग है और देश की साधारण आर्थिक स्थिति क्या है? राष्ट्र जो नोट निकालता है वह इस पर निर्भर नहीं कि वस्तुओं के दोरे के लिये कितने रुपयों की ज़रूरत है। राष्ट्र तो ज़्यादातर नोट तभी निकालता है जब उसकी आमदनी से खर्च ज़्यादा हो जाता है।

ऐसी हालत में क्या सोने की और कागज़ के रुपये की खरीदने की ताकत बराबर होगी ? इसका उत्तर इस पर निर्भर है कि किस तादाद में कागज़ के रुपये निकाले गये हैं और वस्तुओं के दौरे के साधनस्वरूप कितने रुपयों की ज़रूरत है । किसी विशेष समय पर किसी देश में दौरे के लिये कितने रुपयों की ज़रूरत है यह इस पर निर्भर है कि बाजार में दौरे पर कुल वस्तुओं का अर्थ्य कितना है और रुपया या इसके एवज़ी के दौरे का रफ़्तार क्या है ? दौरे पर वस्तुओं का अर्थ्य जितना अधिक होगा उतने ही ज़्यादाह रुपयों की ज़रूरत होगी । रुपये के दौरे का रफ़्तार जितना अधिक होगा उतने ही कम रुपये की ज़रूरत है । लेकिन दौरे पर कितने रुपये की ज़रूरत है इसका निश्चय करने के लिये दौरे पर कुल वस्तुओं के अर्थ्य से उतने वस्तुओं का अर्थ्य घटा देना होगा जो उधार पर बेचे जाते हैं । इस तादाद में उन रुपयों का जोड़ लगाना होगा जितने की ज़रूरत तनख्वाह आदि देने के लिये पड़ती है । उन दोनों को जोड़ने की ज़रूरत नहीं जो आपस के हिसाब में कट जाते हैं ।

दौरे के लिये जितने रुपये की ज़रूरत है उससे ज़्यादाह रुपया रहने पर फालतू रुपया लोग जमा करते हैं या गलाकर ज़ेवरात बनाते हैं । अगर सोना चाँदी और कागज़ के रुपये साथ चलते हैं तो दोनों के जोड़ से जितने रुपये फालतू बचते हैं उतनी रकम जमा करने के काम आती है ।

जब दौरे पर वस्तुओं के अर्थ्य से ज़्यादाह नोट चालू होता है तो कोई इसको सोने के सिक्के के बराबर मूल्य पर लेने को तैयार नहीं होता और स्वभावतः बाक़ी हालात समान रहने पर जिसने ज़्यादाह नोट चालू होंगे उनके खरीद की ताकत उतनी ही कम होगी । ऐसी दशा में जिन्होंने कागज़ के रुपये बचा

रखे हैं उनका बचत घट जाती है और काँइ भी व्याक्त कागज़ बचाना नहीं चाहता । गाढ़े दिन में काम आने की आशा पर जो कागज़ के रुपये बटोर रखे गये हैं वे फ़ौरन् ही बाज़ार में बेच दिये जाते हैं जिससे दौरे के रुपये की तादाद में और भी वृद्धि होती है और उनके ख़रीदने की ताक़त और भी घट जाती है । यह सहज बोध की बात है कि सरकार जो नोटों को भुनाने पर सिक्के दे देती है वह ऐसे अवसर पर उनका विनिमय नहीं करती ।

ऊपर की कही गई बातों से हम नीचे लिखे नतीजों पर पहुँचते हैं ।

(१) यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सरकार बाध्य करती है । इसी कारण से कागज़ का रुपया चलता है । सरकार की बाध्यतामूलक नीति के बावजूद यदि कागज़ के रुपये की अधिकता हो तो इसके ख़रीद की ताक़त घट जाती है । पूँजीवादी समाज के आर्थिक नियम पूँजीवादी राष्ट्र से ज़्यादा ज़बर्दस्त हैं ।

(२) सोने के सिक्के के साथ सम्बन्ध-रहित होकर कागज़ का रुपया टिक नहीं सकता । केवल इतनी ही बात नहीं है कि दौरे पर वस्तुओं का अर्थ्य कितना है और कागज़ के रुपये की तादाद कितनी है ? सोने के सिक्के से सम्बन्ध-हीन कागज़ की कल्पना नहीं की जा सकती यदि और कोई नहीं तो इसी कारण से कि सोना चाँदी से ही अर्थ्य का परिमाण हो सकता है । अर्थ्य का परिमाण उसी वस्तु से हो सकता है जिसका स्वयं कुछ अर्थ्य हो । कागज़ के रुपये का वस्तुतः कोई अर्थ्य नहीं है । इसके उत्पन्न करने का श्रम नगण्य है और इसके ख़रीद करने की ताक़त का निश्चय करने में कोई महत्व नहीं रखता । दौरे का अर्थ्य जिससे कागज़ के रुपये का विनिमय

अर्घ्य निर्धारित होता है वस्तुतः उन वस्तुओं का अर्घ्य है जो दौरे पर हैं। यह अर्घ्य का एक विशेषत्व है कि सीधे-सीधे श्रम-समय में इसको बतलाया नहीं जा सकता, एक दूसरे वस्तु से सम्बन्ध जोड़कर ही यह बतलाया जा सकता है। तब यह कैसे सम्भव है कि दौरे पर वस्तुओं के अर्घ्य को कागज़ के रूपों द्वारा प्रकाशित किया जाता है जबकि कागज़ के रूपों का स्वयं कोई अर्घ्य नहीं है ? निश्चय ही यह केवल सोना और चाँदी के सिक्के से ही निर्धारित किया जा सकता है जिनका स्वयं अर्घ्य है और अर्घ्य के परिमाण के रूप में जिनका सार्वभौमिक व्यवहार है। इसीलिये सोना चाँदी की तुलना में ही हम कागज़ के रुपये की खरीद की ताकत को बतला सकते हैं और यह कह सकते हैं कि यह सोने के मूल्य की बराबरी पर है या उससे कम है। इस प्रकार से यदि सोना चाँदी न हो तो दौरे पर वस्तुओं के अर्घ्य का परिमाण नहीं बतलाया जा सकता और इसलिये कागज़ के रुपये के खरीद की ताकत का कोई हिसाब नहीं लग सकता।

(३) धातु के सिक्के यद्यपि पूरी क्रीमत के नहीं होते तथापि कागज़ के रुपये के मुकाबले में इनकी काफ़ी क्रीमत होती है। चाँदी, निकिल, ताँबा आदि धातु के सिक्के इसमें शामिल हैं।

ये सांकेतिक मुद्रा दौरे की प्रक्रिया में स्वर्ण धातु की जगह लेती है यदि इसके खरीद की ताकत स्वर्ण धातु से कम न हो ; और यह तभी सम्भव है जबकि बाज़ार में बाज़ार की आवश्यकता से अथवा दौरे के अर्घ्य से इनका परिमाण अधिक न हो। आवश्यकता से अधिक होने पर इनकी खरीद की ताकत घट जायगी जब तक न कि इन सिक्कों में मौजूद धातु का अर्घ्य दौरे के अर्घ्य के बराबर हो जाय। यदि इसके बाद दौरे का अर्घ्य और घटता रहे तो चालू सिक्कों का परिमाण आवश्यकता से

अधिक बढ़ जायगा और इनका हथ्र वही होगा जो ऐसे अवसर पर सोने का होता है—इन सिक्कों को गलाकर इनका धातु जमा किया जाने लगता है ।

कभी-कभी बाज़ार में कागज़ के नोट की बहुतायत के कारण चीज़ों की महँगी और रुपयों का दर घटना रुपयों की बाढ़ आ जाती है और दौरे की आवश्यकता से कहीं अधिक हो जाते हैं । अकसर आमदनी से अधिक खर्च को निवाहने के लिये ही राष्ट्र ऐसा करता है ।

ज्यों-ज्यों कागज़ के रुपये ज़्यादा निकाले जाते हैं, इनकी ख़रीद की ताक़त घट जाती है और चीज़ों का दाम महँगा होता जाता है । कभी-कभी तो दाम अक्षरशः प्रतिदिन ही नहीं प्रति घण्टा बढ़ता रहता है जैसा कि पिछले दिनों लड़ाई के बाद जर्मनी में हुआ । वस्तुओं के अर्घ्य का ठीक हिसाब लगाना असम्भव हो जाता है । वस्तुओं का दाम लगाते समय पूँजीपति उसमें बचत के लिये एक अधिक अक जोड़ देता है ।

रुपये की ख़रीद की ताक़त घटते रहने के कारण उधार का सौदा असम्भव हो जाता है । पावना देने में कोई विलम्ब नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका पता नहीं कि रुपये की स्थिति क्या होगी ? राष्ट्रीय आर्थिक संगठन को क़र्ज़ प्रथा के लाभ से वञ्चित रहना पड़ता है । पहले से चीज़ बनाने का ठेका लेना नुक़सानदेह साबित हो सकता है क्योंकि आर्डर लेते समय जो मूल्य लाभजनक मालूम पड़ता है, चीज़ बनाकर देते समय वह मूल्य हानिजनक हो सकता है ।

जिस किसी के पास रुपया है वह उसको वस्तु में परिणत करना चाहता है—जिसके पास वस्तु होता है वह उसको रखकर बेचना चाहता है । इस उम्मीद में कि उसको ज़्यादा रुपये मिलेंगे । ऐसी दशा में ही सट्टा और मुनाफ़ावृत्ति बढ़ जाती है ।

श्रम-शक्ति नाम के वस्तु का दाम और चीजों के मुक़ाबले कम चढ़ता है। मज़दूरी यदि बढ़ता भी है तो मज़दूरों के खाने पीने और जीवनधारण की सामग्रियों का दाम और भी बढ़ जाता है और इस प्रकार असली मज़दूरी घट ही जाती है तथा मज़दूरों की हालत खराब होती जाती है।

लेनदेन करीब करीब उठ जाने के कारण और ठीक ठीक हिसाब लगाना असम्भव होने के कारण पूँजीपति को तरह तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिये वह कई उपाय अवलम्बन करता है। यथा—

(१) वस्तुओं का दाम कुछ चढ़ा कर रखता है।

(२) रुपयों या काग़ज के रुपयों के बदले वह सोना, जवाहरात और जमीन आदि खरीद लेता है।

(४) यदि वह अपने देश में ऐसा नहीं कर सकता तो वह दूसरे देश को अपनी पूँजी भेजता है जहाँ मुद्रा का मूल्य स्थायी है और क्षण क्षण उठता गिरता नहीं।

(३) वह अपना तैयार माल भी दूसरे देशों को भेजता है और चूँकि वह मज़दूरों को कम मज़दूरी देता है, प्रतियोगिता में उसको अधिक सुविधा रहती है।

बड़े किसानों को भी लाभ रहता है क्योंकि अनाज पैदा करने में मज़दूरी का एक बहुत बड़ा हिस्सा है। उधार लेनेवाले भी बहुत लाभ में रहते हैं क्योंकि असल ग़क़म जो वह अदा करता है, बहुत घट जाता है।

काग़ज के रुपये का दर गिर जाने के कारण छोटे किसान, मज़दूर और शहर की निम्न मध्यम श्रेणी के लोगों के बचत के रुपये काफ़ूर हो जाते हैं। हजारों, जो अपनी पूँजी के सूद पर ही गुज़र बसर करते हैं बरबाद हो जाते हैं।

राष्ट्र कागज़ का रुपया निकालकर अपना खर्च निवाहना चाहता है। इस प्रकार जनता के मत्थे वह अपना खर्च डाल देता है। यह राष्ट्र के लिये एक आमदनी की ज़रिया बन जाती है—एक विशेष प्रकार का टैक्स जिसका भार विशेषकर मज़दूरों को उठाना पड़ता है।

**साधारण अवस्था
का पुनरावर्तन**

इस तरह की हालत ज़्यादाद दिन नहीं रह सकती और एक स्थायी मुद्रा-प्रथा की आवश्यकता बढ़ने लगती है।

इस हालत के सुधार के लिये पहली आवश्यकता यह है कि राष्ट्र के बजट में सामञ्जस्य हो, खर्च और आमदनी के पल्ले बराबर हों। यह कागज़ के रुपयों के ज़रिये नहीं हो सकता बल्कि टैक्स, विदेशों से कर्ज़ और सरकारी कारख़ानों के मुनाफ़ा आदि से ही हो सकता है। परन्तु, हाँ, लड़ाई के समय, या इसके इर्द गिर्द ऐसी व्यवस्था सम्भव नहीं। मुल्क की आर्थिक स्थिति में सुधार के साथ ही यह सम्भव है। और यह भी बात सही है कि मुद्रास्थिति के स्थायी होने से भी आर्थिक दशा सुधर जाती है। यह इस प्रकार से होता है कि कागज़ के नये रुपये निकाले नहीं जाते और सरकार को टैक्स आदि के लिये जो पुराने रुपये मिलते जाते हैं उनको वह फिर से चालू नहीं करती।

**अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में
हिसाब का चुकता**

दो देशों के व्यापारिक सम्बन्ध में दौरे का माध्यम सोना ही हो सकता है कागज़ का रुपया नहीं। दो देशों के सोने के सिक्कों के परिवर्तन का अनुपात उन सिक्कों में सोने के परिमाण पर निर्भर है। इन सिक्कों के विनिमय के दरों में अन्तर का परिमाण उतना ही हो सकता है जितना कि सोना गलाने की कीमत हो।

परन्तु दो देशों के बीच कारोबार केवल नक़्क़द नहीं क़र्ज़ पर भी चलता है। यहाँ भी विनिमय का बिल रुपये की जगह ले सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में इन बिलों को विदेशी विनिमय बिल कहा जाता है।

भिन्न समयों पर इन विदेशी बिलों को भुनाने के जो दर होते हैं उनमें अन्तर कितना होगा यह इस पर निर्भर होगा कि एक देश से दूसरे देश को जहाज़ के ज़रिये सिक्के भेजने का दाम कितना लगता है, तथा एक देश के बिलों की दूसरे देश में कितनी माँग है। जो दूसरे देश किसी एक देश के क़र्ज़दार होंगे उन देशों में उस देश के बिलों की ज़्यादा माँग होगी और वहाँ के बिलों का दाम चढ़ जायगा। यह चढ़ाव पूर्वोक्त सीमा से अधिक नहीं हो सकता। दो देशों के आपसी क़र्ज़ की स्थिति पर ही विदेशी बिलों का दर निर्भर है। जिस देश का क़र्ज़ दूसरे देश पर होता है उसकी स्थिति लाभदायक होती है। किसी देश के आयात-निर्यात से ही विशेष रूप से स्थिति का निदेश होता है, यद्यपि उधार क़र्ज़ का भी इस पर असर पड़ता है। व्यापारिक स्थिति असुविधाजनक होने पर रुपयों का दर घट सकता है।

दसवाँ अध्याय

ज़मीन पर लगान

हर पूँजीपति के लिये जो एक पूँजीवादी कारोबार चलाना चाहता है न केवल मशीन, कच्चा माल और श्रम शक्ति चाहिये बल्कि उसको ज़मीन भी चाहिये जिस पर ही उसका सारा कारोबार चल सकता है। उद्योग - धन्दों से भी ज्यादा, बतौर एक उत्पादन के साधन के जमीन की ज़रूरत है ज़रायत के लिये, खनिज पदार्थों के लिये और कच्चे माल के उत्पादन के लिये।

जमीन, यदि इस पर प्रयोग किये गये श्रम का हिसाब न लगाया जाय, प्रकृति की देन है जिस पर कोई दाम नहीं लगता। इसलिये होना तो यह चाहिये कि हवा, धूप, आदि की तरह लोगों को ज़मीन भी मुफ्त मिलनी चाहिये। परन्तु वास्तव ऐसा है नहीं। ज़मीन का रकबा सीमित है और पूँजीवाद की उत्पत्ति

के बहुत पहले से ही ज़मीन जागीरदारों की निजी सम्पत्ति हो गई थी ।

ज़मीन सीमित होने के कारण और ज़मींदारों की व्यक्तिगत सम्पत्ति होने के कारण, इसके इस्तेमाल के लिये वे लगान वसूल करते हैं । लगान के दो हिस्से हैं । एक हिस्सा तो उस पूँजी पर देना पड़ता है जो ज़मीन की तरक्की के लिये, उस पर आबपाशी के लिये, और मकान आदि बनाने के लिये लगाई जाती है । दूसरा हिस्सा वह है जो पूँजीपति ज़मींदार को ज़मीन के इस्तेमाल के अधिकार के लिये देता है । अर्थशास्त्र लगान के इस दूसरे हिस्से पर ही विचार करता है ।

मान लीजिये कि लगान जो दे रहा है वह पूँजीपति किसान है और अपनी किसानी के लिये मज़दूर रखता है, जिनके श्रम का वह शोषण करता है । यहाँ हम उन क्षेत्रों का विचार नहीं करते जहाँ कोई जमीन रेहन पर लेकर खुद जोतता बोता है अथवा कोई किसान ज़मीन खरीद लेता है और स्वयं ही ज़मींदार और पूँजीपति दोनों बन जाता है ।

किन हालात में पूँजीपति ज़मींदार को लगान देने के लिए राजी हो (सकता है) जायगा ? केवल उसी हालत में जबकि उसको ज़मीन पर आमदनी इतनी हो कि लगान देने के बाद भी औसत मुनाफ़ा उसके लिये बचे । यदि उसको औसत मुनाफ़ा न मिले तो वह निःसन्देह ज़रायत से पूँजी हटाकर उद्योग-धन्दों में उसका प्रयोग करेगा जहाँ उसको कम से कम औसत मुनाफ़ा मिले ।

पूँजी का प्रयोगक्षेत्र ज़रायत से उद्योग-धन्दों में बदल जाने के कारण किसानी के उपज मँहँगे हो जायेंगे और यों उस पूँजी पर जो ज़मीन पर लगाई गई होगी औसत मुनाफ़ा मिलने

लगेगा। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि औसत से अधिक मुनाफ़ा के रूप में ही लगान की कल्पना की जा सकती है। औसत से अधिक मुनाफ़ा की उत्पत्ति कैसे होती है ?

Differential Rent

आन्तरिक लगान

उन्नत मशीन आदि के प्रयोग से वस्तु का दाम औसत उत्पादन के मूल्य से कम हो जाता है। जितना कम हो जाता है उतना ही अधिक मुनाफ़े का परिमाण है। निश्चय ही यहीं पर लगान का उद्गमस्थान है। एक उदाहरण से यह और स्पष्ट हो जायगा।

हर जगह ज़मीन बराबर ज़रखेज़ नहीं है। ऐसी ज़मीन के तीन अलग अलग टुकड़ों को ले लीजिये। मान लीजिए कि हर टुकड़े पर पँजी लगाई गई है २००) ४० की जिस पर औसत मुनाफ़ा है २० फ़ी सदी यानी ४०) ४०। अब देखा जाय कि हर टुकड़े पर एक सेर अनाज का दाम क्या होगा ? नीचे दिये गये नक्शा से इसका अंक मालूम हो जायगा।

क्र.सं.	उत्पन्न अनाज का परिमाण	कुल पैदावार की कीमत	मुनाफ़ा का औसत दर	कुल अनाज के पैदावार का मूल्य	फ़ी सेर पैदावार की कीमत
१	२०० सेर	२००)	४०)	२४०)	$\frac{२४०}{२००} = १\frac{१}{५}$
२	१५० सेर	२००)	४०)	२४०)	$\frac{२४०}{१५०} = १\frac{४}{५}$
३	१०० सेर	२००)	४०)	२४०)	$\frac{२४०}{१००} = २\frac{४}{५}$
कु.जो.	४५० सेर	६००)	१२०)	७२०)	...

यदि यह मान लिया जाय कि कृषि में भी उद्योग-धन्दों की तरह उत्पादन के औसत मूल्य का निर्णय लागत दाम से ही होता है

तो इस क्षेत्र में पैदावार का मूल्य होगा $\frac{०.२०}{१.२०} \times ६० = १\frac{१}{२} \times ६०$ । यह जाहिर है कि (१) के काश्तकार को फ्री सेर २×६० मुनाफ़ा होगा और (२) के काश्तकार को औसत मुनाफ़ा मिलेगा । लेकिन (३) के काश्तकार का क्या हाल होगा ? उद्योग-धन्दा में तो यह सम्भव है कि पूँजीपति मशीनों की उन्नति के द्वारा औसत उत्पादन-शक्ति को पहुँचे, लेकिन (१) और (३) के उत्पादन का अन्तर मशीनों के कारण नहीं है, इसका कारण है प्राकृतिक—ज़मीन का अधिक या कम उपजाऊ होना । अगर बाक़ी बातें बराबर हों तो समान पूँजी के प्रयोग से अधिक उपजाऊ भूमि में कम उपजाऊ भूमि से ज़्यादा पैदावार होगा । इसलिये यदि औसत लागत दाम से ही अनाज का मूल्य निर्धारित हो तो (३) के काश्तकार को सदा के लिये ही औसत मुनाफ़े से कम पर सन्तोष करना हो और कोई पूँजीपति ऐसा करना नहीं चाहेगा । इसलिये (३) की ज़मीन परती पड़ी रहा करेगी । लेकिन ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब (१) और (२) के उपज से ही बाज़ार की माँग की पूर्ति हो सके । लेकिन जब माँग इससे बढ़ जायगी तो तीसरी भूमि भी काम में लानी पड़ेगी और अनाज का दाम हो जायगा (३) के समान यानी $२\frac{१}{२} \times ६०$ । अब तीसरी भूमि के काश्तकार को भी औसत मुनाफ़ा मिलने लगेगा । इससे स्पष्ट है कि उद्योग-धन्दों की तरह कृषि के उपज का मूल्य औसत लागत दाम से निर्धारित नहीं किया जाता । चूँकि ज़मीन के प्राकृतिक गुण क्षणिक नहीं बल्कि स्थायी हैं और मनुष्य के प्रभाव से मिट नहीं सकते (जैसे यांत्रिक उन्नति आदि के द्वारा मनुष्य उद्योग-धन्दों को प्रभावित करता है) और चूँकि अच्छी ज़मीन का रकबा सीमित है और इच्छानुसार इसकी वृद्धि नहीं हो सकती, कृषि के उपज का मूल्य उत्पादन के औसत दाम से लगाया

नहीं जा सकता बल्कि उस दाम से जो कि सबसे ख़राब ज़मीन पर पैदा करने में लगता है।

इसके फलस्वरूप ज़्यादाहज़र खोज़ ज़मीन से कम ख़रख़ेज़ ज़मीनों के बनिस्वत कुछ अतिरिक्त आमदनी होगी। इस अतिरिक्त आमदनी का परिमाण इस पर निर्भर है कि सबसे ख़राब ज़मीन के उपज के दाम से उन ज़मीनों के उपज का दाम कितना कम है ?

यह स्पष्ट है कि इन हालात में (१) और (२) के मालिक तभी अपनी ज़मीनों के इस्तेमाल की इजाज़त दे सकते हैं जब उनके काश्तकार अपनी अधिक आमदनी जिसकी उत्पत्ति का कारण उनकी ज़मीनों का ज़्यादाहज़र उपजाऊपन है उनके मालिकों को दे देने के लिये तैयार हों। काश्तकार भी यह लगान देने को तभी तैयार होगा जब लगान देने के बाद भी वह औसत मुनाफ़ा कमा सके। इस प्रकार यह अतिरिक्त आमदनी ही लगान है। पिछले उदाहरण में (१) और (२) ज़मीन से ही लगान मिल सकता है। हाँ, यदि (१), (२) और (३) के सम्मिलित उपज से समाज की ज़रूरतें पूरी न पड़ें तो नई ज़मीन (४) भी काम में लानी पड़ेगी और तब (३) से भी लगान वसूल किया जावेगा।

ज़मीनों की भिन्न स्थिति के कारण भी लगान की सृष्टि हो सकती है। ज़रायत में, उद्योग-धन्दों से कहीं ज़्यादाह, इस बात का असर होता है कि ज़मीन बाज़ार से कितनी दूरी पर है। इसका कारण यह है कि कच्चा माल या ज़रायती उपज का दाम इतना नहीं है जितना कि उन को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने का दाम। अगर हम पिछले उदाहरण की तरह तीन अलग अलग ज़मीन के टुकड़ों को लें जिनकी दूरी बाज़ार से (१) से (२) की और (२) से (३) की ज़्यादा हो तो पिछले

मिसाल की तरह (१) और (२) को अतिरिक्त आमदनी होगी और उन ज़मीनों पर लगान वसूल किया जावेगा ।

इस आमदनी में फ़र्क का एक और भी कारण हो सकता है । इन ज़मीनों का उपज बढ़ाने के लिये मान लीजिये, पिछले उदाहरण की तीनों ज़मीनों पर समान पूँजी का प्रयोग होता है । लेकिन इन तीनों क्षेत्रों में अतिरिक्त उपज का परिमाण समान न हो । (१) से (२) में और (२) से (३) में इस अतिरिक्त उपज का परिमाण घटता जाता है । इस क्षेत्र में भी (१) और (२) की अधिक आमदनी होगी और उन ज़मीनों पर लगान वसूल किया जावेगा ।

इन उदाहरणों से ऐसा मालूम होता होगा कि सर्वदा पहले ज्यादा जरखेज़ ज़मीन जोती बोई जाती है और फिर बढ़ते बढ़ते कम उपजाऊ ज़मीन पर हाथ लगाया जाता है । परन्तु वास्तव में कभी कभी इसके विपरीत भी होता है । इसका कारण यह है कि जंगलात होने के कारण अथवा बाज़ार दूर होने के कारण कम उपजाऊ ज़मीन ही पहले जोती बोई जाती है । इन्हीं कारणों से पूँजी का प्रयोग भी कम उपजाऊ ज़मीन पर हो सकता है । बहर-हाल अलग अलग ज़मीनों की आमदनी भिन्न होने के कारण ही लगान की उत्पत्ति होती है ।

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि लगान
लगान का उद्गम का उद्गम-स्थल है ज़मीन का उपजाऊ-
 पन—जिसका सामाजिक सम्बन्धों से कोई नाता नहीं है । यह सही नहीं है । मनुष्य-श्रम के बिना किसी ज़मीन से लगान की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यह हम देख चुके हैं कि ज्यादा जरखेज़ ज़मीन पर, या उस ज़मीन पर जिसकी स्थिति लाभोत्पादक है या जिस पर पूँजी के प्रयोग से उपज की वृद्धि अधिक होती है, श्रम की उत्पादन-शक्ति अधिक होती है और यही लगान का कारण होता

है। यहाँ पूँजीवादी कृषि की बात हो रही है। पूँजीवादी काश्त-कार अपने हाथों खेत जोतता बोता नहीं है बल्कि इस काम के लिये मजदूरों को लगाता है। इसलिये लगान—जो औसत मुनाफ़ा से अतिरिक्त मुनाफ़ा का दूसरा नाम है—की सृष्टि होती है अधिक उपजाऊ ज़मीन पर मजदूर की अधिक उत्पादन-शक्ति से। दूसरे शब्दों में लगान मजदूर द्वारा सृष्टि अतिरिक्त अर्थ का एक हिस्सा है। अधिक उपजाऊ ज़मीन पर श्रम की उत्पादनशक्ति अधिक होने के कारण मजदूर द्वारा सृष्ट सम्बंधित अतिरिक्त अर्थ काश्तकार के लिये अतिरिक्त मुनाफ़ा का उद्गम हो जाता है। काश्तकार औसत मुनाफ़ा अपने पास रखकर बाक़ी हिस्सा लगान के रूप में ज़मींदार को दे देता है।

विशुद्ध लगान

यह पहले ही कहा जा चुका है कि पूँजीपति यदि लगान न दे तो ज़मींदार पूँजीपति को अपनी ज़मीन नहीं देगा। यह भी, कि ज़मीन की काश्त कोई तमा करेगा जब ज़मींदार को लगान देने के बाद उसको औसत मुनाफ़ा मिल सके। ज़मीन न० (३) से कोई आंतरिक लगान नहीं वसूल हो सकता। लेकिन ज़मीन चाहे कितनी ही ख़राब क्यों न हो वह बिना लगान के किसी काश्तकार को ज़मीन न देगा चाहे उसको परती ही क्यों न डाल रखनी पड़े। दूसरी ओर काश्तकार भी ज़मींदार को अपनी औसत मुनाफ़ा का साझीदार नहीं बनाना चाहता। इसके फलस्वरूप अनाज का पैदावार घट जायगा। यदि साथ ही साथ बाज़ार में अनाज की माँग भी घट न जाय तो अनाज का दाम बढ़ जायगा। दाम बढ़ता ही जायगा जब तक न कि ख़राब से ख़राब ज़मीन, जिस पर कोई आन्तरिक लगान नहीं मिल सकता, के काश्तकार को भी मुनाफ़ा मिले और वह ज़मींदार को लगान दे सके।

अब हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि ख़राब से ख़राब ज़मीन

पर भी लगान देना पड़ता है। लेकिन इस लगान का कारण भिन्न भूमियों के विभिन्न उपजाऊपन के हेतु भ्रम की उत्पादन-शक्ति की भिन्नता नहीं है बल्कि भूमि का सीमित होना और यह व्यक्तिगत सम्पत्ति होना ही है। ज़मीन का व्यक्तिगत सम्पत्ति होने और सीमित होने के कारण जो लगान दिया जाता है उसको मार्क्स ने निरपेक्ष लगान का साख्य दिया है।

विशुद्ध लगान का

उद्गम

ज़रायती पूँजी के आन्तरिक संगठन की कमी से इस लगान का विशेष सम्बन्ध है। उद्योग धन्दों की अपेक्षा खेतों में

मशीनों का प्रयोग कम होता है, कारीगरी कम करनी पड़ती है, कच्चा माल कम लगता है और यह कम दाम का होता है। इस कारण, उद्योग-धन्दों की अपेक्षा खेती में अस्थिर पूँजी का परिमाण अधिक होता है और इसमें लाभ का दर अर्थात्

अः अ
स्थिः पू + अः पू अधिक होता है। कृषि में मजदूर जो अधिक अतिरिक्त अर्थ का उत्पादन करते हैं वही निरपेक्ष लगान का उद्गम है।

हम देख चुके हैं कि उद्योग के क्षेत्र में औसत पूँजी के मुकाबले उस पूँजी पर मुनाफ़ा का दर अधिक नहीं हो सकता जिसका आन्तरिक संगठन कम है। क्या ज़रायत का अधिक मुनाफ़ा पूँजीवादी उत्पादन के कुल शाखाओं में पूँजी के परिमाण के अनुपात में बँटने के लिये मुनाफ़ा के कुल रकम में सम्मिलित हो जाता है ?

उद्योग - धन्दों से ज़रायत में पूँजी के प्रयोगक्षेत्र का परिवर्तन इतना सहज नहीं क्योंकि ज़मीन का परिमाण सीमित है और कुल ज़मीन/ज़मींदार-श्रेणी की व्यक्तिगत सम्पत्ति है। ज़रायत के अतिरिक्त मुनाफ़ा को घटाने के लिये (उसमें हिस्सेदारों की

तादाद बढ़ाकर) पूँजी का मुक्त प्रवाह सम्भव पर न होने के कारण ज़मींदार इस अतिरिक्त मुनाफ़ा को निरपेक्ष लगान के रूप में हड़प लेता है ।

ख़राब से ख़राब ज़मीन पर निरपेक्ष लगान वसूल किया जाता है । लेकिन अच्छी ज़मीन पर भी आन्तरिक लगान के साथ ही साथ निरपेक्ष लगान भी वसूल किया जाता है ।

अच्छी ज़मीन पर आन्तरिक लगान वसूल होने के कारण इसका मालिक अपने पैदावार को उस दाम से कम पर नहीं बेचता जिस पर ख़राब ज़मीन का पैदावार बिकता है । हर ज़मीन का पैदावार ख़राब से ख़राब ज़मीन के पैदावार के दाम बिकता है और यह दाम ही बाज़ारभाव है जिसमें निरपेक्ष लगान सम्मिलित है । इससे यह स्पष्ट है कि अच्छी ज़मीन पर आन्तरिक लगान के साथ निरपेक्ष लगान भी वसूल होता है ।

खेतों के अलावा भी और ज़मीनें हैं जिन पर उद्योग-धन्दे, व्यापारिक केन्द्र और इमारतें आदि अवस्थित हैं और जिनके गर्भ में सोना, कोयला, तेल आदि खनिज पदार्थ हैं । इन ज़मीनों के मालिकों को ज़रायती ज़मीन के मालिकों के मुक़ाबले कहीं अधिक लगान मिलता है ।

लगान और ज़रायती पूर्वोक्त भाग से यह सिद्ध है कि
पैदावार के मूल्य ज़रायती पैदावार के मूल्य के तीन भाग हैं—सबसे ख़राब ज़मीन पर

पैदावार का लागत दाम, श्रौसत मुनाफ़ा और निरपेक्ष लगान । माँग और पूर्ति के प्रभाव में इन्हीं तानों के जाड़ के इर्द गिर्द ज़रायती पैदावार के दाम चढ़ते गिरते रहते हैं ।

लेनिन के शब्दों में “ज़मीन का व्यक्तिगत सम्पत्ति होना निरपेक्ष लगान का कारण है । इसमें एकाधिकार का एक अंग

है—एकाधिकार मूल्य का यह जनक है। भूमि सम्पत्ति का वैयक्तिकरण खुली प्रतियोगिता में बाधक होता है, और ज़रायती तथा और ज़रायती पैदावारजनित मुनाफ़ा को एक सम्मिलित औसत मुनाफ़ा का रूप ग्रहण करने से रोकता है। इसके अलावा उद्योग के मुक्ताबले ज़रायत का कला कौशल नीचे दर्जे का है और पूँजी के संगठन में स्थिर पूँजी के मुक्ताबले अस्थिर पूँजी का भाग अधिक है। इस कारण ज़रायती पैदावार का मूल्य सब पैदावारों के औसत मूल्य से अधिक है। भूमि सम्पत्ति का वैयक्तिकरण ज़रायती केन्द्रों के मुनाफ़ों की बराबरी को रोकते हुए इस बात की सम्भावना की सृष्टि करता है कि चोर्ज़ेन केवल अधिक से अधिक उत्पादन मूल्य पर बल्कि वस्तु विशेष के निजी अर्थ पर बिकें।”

यदि पूँजीवाद के अस्तित्व काल में ही भूमि सम्पत्ति का वैयक्तिकरण मिटा दिया जाय तो निरपेक्ष लगान का अन्तर्धान हो जायगा और ज़रायती पैदावार का उत्पादन मूल्य होगा लागत दाम और औसत मुनाफ़ा का जोड़। निरपेक्ष लगान ही के कारण ज़रायती पैदावार का दाम अधिक चढ़ा होता है।

आन्तरिक लगान का ज़रायती पैदावार के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि :—

(१) सबसे खराब ज़मीन पर पैदावार के लागत दाम से ही मूल्य का निराकरण होता है, और—

(२) इस ज़मीन से आन्तरिक लगान वसूल नहीं होता।

भूमि का मूल्य पूँजीवादी बाज़ार में ज़मीन बहुत जल्दी बिक जाता है क्योंकि—

(१) लगान के रूप में इससे एक बँधी आमदनी मिलती है।

(२) उद्योग - धन्दा व्यापार आदि के लिये भी इसका जरूरत है।

(३) ज़रायती उत्पादन के लिये इसकी आवश्यकता है ।
 तथा (४) भूमि सम्पत्ति से बहुत से अधिकार प्राप्त होते हैं
 जैसे वोट आदि । इसके मूल्य का निर्णय कैसे किया
 जाता है ?

इसके उत्पादन में कोई श्रम का व्यय नहीं होता । यह
 प्रकृति का देन है । यह और वस्तुओं से भिन्न है और अर्घ्य के
 बिना प. इसके मूल्य का निर्णय नहीं हो सकता । भूमि में
 जमींदार का सबसे बड़ा स्वार्थ यह है कि इसके अधिकार से
 बिना श्रम के उसको लगान मिलता जाता है । जमीन बेचते
 समय वह इसका मूल्य इस बुनियाद पर लगायेगा कि इससे
 लगान के रूप में उसको कितनी आमदनी होती है ?
 मान लीजिये कि लगान सालाना ५००) रुपया है । वह यह
 उम्मीद रखता है कि ज़मीन की बिक्री के बाद उसकी यह
 आमदनी कायम रहेगी । यह सम्भव है कि जमीन बेचने के बाद
 वह बिक्री के रुपये बक में डाल दे और इस पर उसको सालाना
 सूद मिले ५००) ६० । यदि सूद का दर ५ फीसदी हो तो ५००)
 ६० सालाना सूद के लिये पूँजी चाहिये १०,०००) ६० की ।

इस प्रकार ज़मीन का मूल्य लगान की गणित पूँजी है
 अर्थात् लगान धन पूँजी के रूप में परिवर्तित हो जाता है जिससे
 सूद के रूप में अतिरिक्त अर्घ्य का उत्पादन होता रहता है । यह
 क्रमन किसी वास्तविक अर्घ्य के बदले नहीं दी जाती क्योंकि
 ज़मीन का निजस्व कोई अर्घ्य नहीं है लेकिन इस लिये कि भविष्य
 में इसके आधार पर आमदनी का एक ज़रिया हो जाता है ।

ज़मीन का मूल्य निर्भर करता है दो बातों पर—एक तो बंक
 रुपया जमा करनेवालों को किस दर से सूद देता है, और दूसरी
 यह कि उस ज़मीन पर लगान कितना मिलता है । यदि ज़मीन
 का मूल्य है 'अ' तो यह स्पष्ट है $\text{अ} \times \text{फीसदी सूद का दर} =$

लगान । अथवा $अ \times \frac{स}{१००} = ल$ या $नी अ = ल \times \frac{१००}{स}$ । जहाँ

‘स’ है सूद का दर और ल है लगान । लगान जितना अधिक होगा और सूद का दर जितना कम होगा ज़मीन का मूल्य उतना अधिक होगा । इसका विपरीत भी उतना ही सही है ।

पूँजीवाद के विकास के साथ लगान में वृद्धि का मुकाब

पूँजीवाद में लगान का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है । पूँजीवाद के विकास के साथ उद्योग धन्दों में मज़दूरों की तादाद बढ़ जाती है और ज़रायती पैदावार का बाज़ार बढ़ जाता है । ज़मान जब तक तक व्यक्तिगत सम्पत्ति रहती है ज़रायती पैदावार की बढ़ती हुई माँग से उनका दाम बढ़ जाता है जिसके कारण हर रूप में ज़मीन के लगान का दर बढ़ जाता है । आन्तरिक लगान इसलिये बढ़ जाता है कि जो ज़मीन पहले जोती बोई नहीं जाती थी वह अब जोती बोई जाने लगती है । बढ़ती हुई पूँजीवाद को ज़रायती पैदावार की माँग अधिक होने के कारण इनका दाम चढ़ जाता है और इसके कारण विश्व के तिनारत में दूर दूर के देश और जिले दाखिल हो जाते हैं और उनके पैदावार को दूर बाजारों में बेचना भी लाभदायक होता है ।

पूँजी के प्रयोग से भिन्न भिन्न ज़मीनों की उत्पादन-शक्ति में जो अधिक या कम वृद्धि होती है उससे भी आन्तरिक लगान की सृष्टि होती है । कृषि कला की उन्नति के साथ इन उत्पादन शक्तियों का अन्तर और बढ़ जाता है । ज़रायती पैदावार की माँग में वृद्धि, उनका बढ़ता हुआ मूल्य और भूमि का सीमित परिमाण के हेतु भूमि की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने के लिये अधिकाधिक पूँजी के प्रयोग की आवश्यकता हो जाती है ।

जहाँ तक निरपेक्ष लगान का सम्बन्ध है इसके उद्गम है

भू सम्पत्ति की वैयक्तिकता तथा ज़रायती पूँजी के आन्तरिक संगठन का कम होना । औद्योगिक कला न केवल कृषिकला के साथ क्रदम मिला कर चलती है बल्कि उससे कहीं आगे बढ़ जाती है और इस कारण उद्योग और कृषि की पूँजी के आन्तरिक संगठनों का अन्तर घटता नहीं बल्कि बढ़ता जाता है जिसके परिणामस्वरूप निरपेक्ष लगान की निरन्तर वृद्धि होती जाती है ।

इस प्रकार पूँजीवाद के विकास के साथ हर रूप में लगान की वृद्धि होती रहती है और इसका फल यह होता है कि पूँजीवादी समाज में ज़मींदार श्रेणी के पावना का हिस्सा बढ़ जाता है और सारे समाज के ऊपर इस श्रेणी का भार बढ़ता जाता है ।

समाज के लिये लगान
का अर्थ

पहले समाज के उस हिस्से को लीजिये जो पूँजीवादों का शतकार है । उसको अतिरिक्त अर्थ का एक हिस्सा ज़मींदार को दे देना पड़ता है । यदि वह अपने को इससे मुक्त करना चाहे ज़मीन खरीदकर तो उसको इसमें बहुत पूँजी लगानी पड़ेगी जिसका प्रयोग ज़रायती पैदावार के सिलसिले में नहीं होगा और कृषि की उत्पादन प्रथा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । ज़मीन से कृषिकार्य करके लाभ उठाने के लिये अलग पूँजी की ज़रूरत है ।

इस प्रकार पूँजीवादी उत्पादन-प्रथा के लिये लगान दोहरा शत्रु है; एक तो इसलिये कि पूँजीपतियों में बाँटने के लिये कुल अतिरिक्त अर्थ का परिमाण घट जाता है और दूसरा इसलिये कि उस पूँजी का हास हो जाता है जिसका प्रयोग ज़रायती पैदावार के लिये हो सकता था और जिससे अतिरिक्त अर्थ की सृष्टि होती ।

इससे भी अधिक भूमि का वैयक्तिक सम्पत्ति होना कृषि की उत्पादन शक्ति के विकास में बाधक है । कैसे ? पूँजीपति का शत-

कार का स्वार्थ इतना ही है कि कृषि की उन्नति इस प्रकार से करे और पूँजी इस प्रकार से लगाये कि उसी को इसका लाभ मिल सके नहीं तो उसके रेहन का समय बीत जायगा और उसने जो कुछ उन्नति की है उसका लाभ उसको नहीं बल्कि ज़मींदार को होगा जो लगान भी बढ़ा सकता है। इसलिये भूमि के व्यक्तिगत सम्पत्ति होने के कारण उसकी उन्नति में बाधा पड़ती है।

फिर, अधिक लाभ का लोभ ही पूँजीपति को लगातार उन्नति के मार्ग पर ले जाता है लेकिन ज़रायत में साग अधिक लाभ ज़मींदार को दे देना पड़ता है इसलिये उसकी उन्नति की प्रवृत्ति ही नहीं रह जाती।

भूमि सम्पत्ति की वैयक्तिकता से मजदूरों को और भी हानि होती है। निरपेक्ष लगान की लगातार वृद्धि से ज़रायती पैदावारों के मूल्य में वृद्धि होती है। मजदूर श्रेणी के ऊपर यह कोड़ा-जैसा पड़ता है। मजदूरों की जीवन धारण की सामग्रियों के मूल्य में वृद्धि होने के कारण श्रम-शक्ति के अर्थ की वृद्धि होनी चाहिये जिसके फलस्वरूप मजदूरी बढ़नी चाहिये। लेकिन श्रम-शक्ति सब समय अपने अर्थ पर नहीं बिकता। यह अवश्य है कि मजदूर अपनी सम्मिलित शक्ति और संघर्ष के द्वारा मजदूरी में कुछ वृद्धि करवा लेता है लेकिन साधारण तौर पर चीजों का दाम जितना बढ़ता है मजदूरी उस अनुपात में नहीं बढ़ती और इस दशा में ज़मींदार का लगान अतिरिक्त अर्थ से ही नहीं बल्कि मजदूरी के अंश से भी दिया जाता है।

छोटे काश्तकारों का शोषण इससे भी अधिक होता है जो लगान की सीमा पार कर जाता है। छोटा काश्तकार तो मुनाफ़ा भी नहीं चाहता। वह तो अपनी मजदूरी का भी एक अंश देकर लगान पर ज़मीन लेने को तैयार है। इस कारण,

लगान के रूप में काश्तकारों को आवश्यक सामग्रियों का एक अंश भी ज़मींदार उनसे ले लेता है ।

भूमि का राष्ट्रीयकरण और लगान भूमि का व्यक्तिगत सम्पत्ति होना
पूँजीपतियों के लिये नुक़सानदेह है
और इसलिये वे भूमि के राष्ट्रीयकरण

के भिन्न-भिन्न मसविदे पेश करते हैं । इनका सार यही है कि भूमि-सम्पत्ति राष्ट्र के हाथ होनी चाहिये । पूँजीवादी समाज में भूमि का राष्ट्रीयकरण आन्तरिक लगान का अन्त नहीं करता है केवल इसे पूँजीवादी राष्ट्र के हाथ सौंपता है और राष्ट्र ठीक ज़मींदार की तरह काश्तकार पूँजीपति और किसानों को ज़मीन लगान पर देता है । इसका कारण यह है कि आन्तरिक लगान की बुनियाद है पूँजीवादी सम्बन्धों का अस्तित्व और भिन्न भूमियों में श्रम की उत्पादन-शक्तियों में अन्तर, जो ज़मीन का उपजाऊपन और उसकी स्थिति आदि पर निर्भर है । ये चीज़ें प्राकृतिक कारणों से होती हैं और राष्ट्रीयकरण से इनको मेटा नहीं जा सकता । व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश से कृषि का पूँजीवादी विकास सुगम हो जाता है । परन्तु अच्छी ज़मीन का परिमाण सीमित होने के कारण सबसे खराब ज़मीन पर पैदावार के लागत के बिना दाम पर जगयती पैदावार के मूल्य का निर्णय होता है और अच्छी ज़मीन पर औसत से अधिक मुनाफ़ा होता है ।

लेकिन निरपेक्ष लगान का जिसकी उत्पत्ति भूमि के व्यक्तिगत सम्पत्ति होने के और पूँजी के आन्तरिक संगठन की कमी के कारण होती है इश् दूसरा होता है । वर्धित अतिरिक्त अर्थ को ज़मींदार स्वयं हड़प लेता है और यह पूँजीपतिवर्ग में बट नहीं पाता । भूमि का राष्ट्रीयकरण ज़रायती पूँजी के आन्तरिक संगठन को बढ़ाता है और मुनाफ़ा को सारे पूँजीपति वर्ग

में बाँट देता है। भूमि के राष्ट्रीयकरण से यानी ज़मीन में व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश से पूँजीवाद का और भी विकास होता है क्योंकि—

(१) जो पूँजी ज़मीन ख़रीदने में लग जाती है उसको उत्पादन की वृद्धि के लिये लगाया जा सकता है।

(२) किसान को अब निरपेक्ष लगान नहीं देना पड़ता है।

(३) ज़रायती पैदावार का मूल्य घट जाता है और इस प्रकार मज़दूर भूस्वामियों को कर देने से मुक्त हो जाता है।

(४) और इससे भूस्वामियों द्वारा किसानों का पूँजीवाद के पूर्व युग के शोषण का अन्त होता है।

यद्यपि पूँजीपतियों को भूमि के राष्ट्रीयकरण में लाभ है तथापि इसके लिये वे चेष्टित नहीं हैं क्योंकि बहुतेरे पूँजीपतियों ने ज़मीन ख़रीद लिया है और वे डरते हैं कि भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश से व्यक्तिगत सम्पत्ति की सारी बुनियाद ही हिल जायगी और पूँजीवाद की भीत (भित्ति) गिर जायगी।

ग्यारहवाँ अध्याय

पूँजी पूर्व युग में लगान के रूप

तथा

छोटे किसानों के लगान का प्रश्न

जिन मुल्कों में पूँजीवाद का विकास बहुत ऊँचा सतह पर पहुँच गया है वहाँ भी छोटी किसानियों की संख्या काफी है। ज्यादातर पिछड़े हुये देशों में सामन्तशाही के अवशेष मिलते हैं। जरायत में सामन्तशाही सम्बन्धों का वर्णन लेनिन ने निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

“कानूनी, शासन सम्बन्धी और सामाजिक दृष्टिकोण से सामन्तशाही क्या है यह हरएक जानता है। लेकिन विरले ही लोग इसकी खोज करते हैं कि सामन्तशाही युग में सामन्त और उसके दास के बीच आर्थिक सम्बन्ध किस प्रकार का होता है। सामन्तवादी भू-स्वामि किसान को ज़मीन और कभी-कभी पैदावार के और साधन दे दिया करता था, जैसे लकड़ी, शहतीर और मवेशी आदि। किसान को ज़मीन देने का क्या अर्थ है ? एक

आधुनिक शब्द का यदि इस्तेमाल किया जाय तो यह उसकी मज़दूरी है । पूँजीवादी उत्पादन-प्राणाली में मज़दूर को मज़दूरी मिलती है रुपये पैसे में, पूँजीपति के मुनाफ़ा को आँका जाता है रुपया पैसा में । आवश्यक और अतिरिक्त श्रम - समय फ़ैक्टरी की एक ही क्रिया में, एक ही दिन के श्रम में संलग्न रहता है । सामन्तशाही में ऐसा नहीं है । इस प्रथा और दासप्रथा में भी श्रम समय के दोनों विभाग रहते हैं लेकिन इनके काल और स्थान भिन्न होते हैं । दास किसान तीन दिन अपने लिये श्रम करता है तो तीन दिन प्रभु के लिये । प्रभु के लिये वह प्रभु की ज़मीन पर काम करता है और अपने और अपने परिवार के लिये उस ज़मीन पर जो उसको दिया गया है, जिससे कि वे अपनी श्रम-शक्ति प्रभु के लिये क़ायम रख सकें ।

सामन्तवादी प्रथा और पूँजीवादी प्रथा इस अर्थ में एक हैं कि दोनों में ही मज़दूर को आवश्यक श्रम का पैदावार मात्र मिलता है और अतिरिक्त अर्थ के पैदावार को वह मुफ़्त उत्पादन के साधन के मालिकों को दे देता है । लेकिन इनमें अन्तर बहुत है । पहला अन्तर तो यह है कि सामन्तवाद में देश की ज़रूरियात देश ही में पैदा की जाती है और ज़रूरियात की बिना पर ही तिजारत चलता है लेकिन पूँजीवाद के लिये मुद्रा तथा धन पूँजी अत्यावश्यक हैं । दूसरा, यह कि सामन्तवादी समाज में भूमि से मज़दूर का संयोग उसके शोषण का साधन है लेकिन पूँजीवाद में मज़दूर को भूमि से छुड़ाया जाता है । सामन्तप्रभु की आमदनी अर्थात् अतिरिक्त पैदावार की प्राप्ति के लिये यह ज़रूरी है कि उसकी ज़मीन पर एक किसान हो जिसके पास अपने लिये ज़मीन, औज़ार व मवेशी हो । जिस किसान के पास ज़मीन या मवेशी या मकान नहीं हैं वह भली भाँति

शोषण का पात्र नहीं बन सकता । पूँजीपति को शोषण के लिये ठीक ऐसा ही मज़दूर चाहिए जिसके पास न ज़मीन है न उत्पादन के साधन और जो अपनी श्रम-शक्ति खुले बाज़ार में बेचे । तीसरा अन्तर यह है कि सामन्तशाही में किसान का व्यक्तिगत रूप से सामन्त प्रभु के अधीन होना ज़रूरी है, नहीं तो वह यदि अपनी ज़मीन का मालिक हो तो वह बिना बरबस के अपने प्रभु के लिये काम नहीं करेगा । इस अर्थनैतिक प्रथा से ग़ैर अर्थनैतिक दबाव की सृष्टि होती है—जैसे गुलामी, क़ानूनी अधीनता, तथा असमता इत्यादि और दूसरी ओर, पूँजीवाद (आदर्श) खुले बाज़ार में पूँजीपति और मज़दूर के बीच सौदा करने की पूरी आज़ादी देता है ।’

गुलामों से प्राप्त सामन्त प्रभु की आमदनी को पूँजीवादी अर्थ में लगान नहीं कहा जा सकता ।

पूँजीवादी लगान वह अतिरिक्त अर्घ्य है जो काश्तकार-पूँजीपति को औसत मुनाफ़ा के अतिरिक्त मिलता है और जिसको उसे दे देना पड़ता है ज़मींदार को, इस अधिकार के लिये कि उसकी ज़मीन का वह इस्तेमाल कर सके । इसमें तीन श्रेणियों का आपसी सम्बन्ध है—(१) ज़मींदार, (२) पूँजीपति-काश्तकार तथा (३) मज़दूर ।

पूँजीवाद-पूर्व लगान पूँजीवादी लगान की तरह कृषि-मज़दूर के शोषण से प्राप्त आमदनी का एक अंश मात्र नहीं है बल्कि पूरी ही आमदनी है । लगान के रूप में सामन्तप्रभु दास के अतिरिक्त श्रम को पूरा-पूरा हड़प लेता है । इसका सम्बन्ध दो श्रेणियों के अस्तित्व से है—(१) ज़मींदार वर्ग जो काश्तकार के अतिरिक्त पैदावार को हड़पता है और (२) किसान, जिनके निज के मकानात और उत्पादन के साधन हैं जिसके कारण शोषण का रूप श्रम-शक्ति का बेरोक-टोक

सूरीद बिक्री नहीं हो सकता बल्कि इसका रूप और खुला होता है। इस क्षेत्र में आवश्यक और अतिरिक्त श्रम का विभेद बहुत स्पष्ट है परन्तु पूँजीवाद में उत्पादन सम्बन्ध गुप्त रहता है।

पूँजीवाद के पूर्व युग के लगान के विकास का मार्क्स ने तीन स्तर बताया है—लगान श्रम के रूप में, जिन्स के रूप में तथा रुपयों में। जब लगान जिन्स में न देकर रुपयों में दिया जाता है तो इसका अर्थ यह है कि न केवल अतिरिक्त पैदावार का उत्पादन होता है बल्कि बाज़ार में इसकी बिक्री होती है। यह तभी सम्भव है जब विनिमय-सम्बन्ध का विकास हो। रुपयों में लगान देना वह ज़ाहिर करता है कि पूँजीवाद के पूर्व युग के लगान की अन्त्येष्टि किया हो रही है। इसके उत्तरोत्तर विकास से पूँजीवादी कृषि और पूँजीवादी लगान की सृष्टि होती है अथवा छोटे पैमाने पर किसानी होती है जो सामन्तवादी श्रृंखला से मुक्त होती है और जिसकी बुनियाद होती है ज़मीन में व्यक्तिगत सम्पत्ति।

छोटे पैमाने की किसानी और आन्तरिक लगान

पूँजीवाद छोटे किसानों को तबाह कर देता है। यद्यपि इसमें से थोड़े धनी किसान भी हो जाते हैं जो बाद में मध्यम श्रेणी के या बड़े पूँजीपति

बन जाते हैं तथापि अधिकांश सर्वहारा दल में परिणत हो जाता है। लेकिन उद्योग की तरह यह ध्वंस लीला बहुत दूर तक नहीं जाती और पूँजीवादी मुल्कों में अब भी छोटी किसानी महत्त्व की है।

छोटी किसानी सामन्तशाही से भिन्न है क्योंकि किसान ज़मीन का तथा उत्पादन के साधनों का मालिक होता है। क्या इन किसानों को आन्तरिक लगान मिल सकता है? जहाँ तक भिन्न भूमियों के उपजाऊपन या उनकी स्थिति ज़मीन के प्राकृ-

तिक गुणों के ऊपर निर्भर है उस छोटे किसान को जिसकी ज़मीन ज़रखेज़ होगी या किसकी ज़मीन की स्थिति अच्छी होगी, अतिरिक्त पैदावार प्राप्त होगा ।

लेकिन पूँजीवादी काश्तकार और छोटे किसान में अन्तर यह है कि वह अपने परिवारसहित स्वयं मेहनत करता है और ज़मीन के उपजाऊपन के कारण उत्पन्न अतिरिक्त पैदावार उसका निज का होता है । इस क्षेत्र में कोई ज़मींदार नहीं होता जिसको वह लगान दे और न तो कोई मज़दूर रखता है जिसके द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त अर्घ्य को वह ज़मींदार के सामने में बाँट लेता हो । इसलिये पूँजीवादी आवेष्टन के बिना छोटी किसानी में आन्तरिक लगान की सृष्टि नहीं हो सकती ।

आन्तरिक लगान के सिलसिले में यह देखना चाहिये कि पूँजीवादी लगान का छोटे किसान पर क्या असर पड़ता है । मार्क्स के शब्दों में—

“पूँजीवादी प्रतियोगिता के बिना पर अर्घ्य को तीन हिस्सों में बाँटा जाता है—मज़दूरी, लगान, व मुनाफ़ा । इस तरीक़े का प्रयोग उन क्षेत्रों में भी किया जाता है जहाँ अर्घ्य को इस प्रकार बाँटने की अवस्थाएँ मौजूद नहीं हैं । दूसरे शब्दों में, तुलनात्मक रूप से हर क्षेत्र में इस प्रकार के विभाग किये जाते हैं । यदि कोई छोटा किसान जिसके लिये अर्घ्य के ये तीनों विभाग लागू हैं अपने ही लिये काम करता है तथा अपना ही पैदावार बेचता है, वह पहले स्थान में अपने को पूँजीपति की नाई नियुक्त करता है एक मज़दूर की भाँति और अपने ज़मींदार की तरह निज को नियुक्त करता है एक किसान की भाँति । मज़दूर की हैसियत में वह अपने को मज़दूरी देता है और पूँजीपति की हैसियत में मुनाफ़ा तथा ज़मींदार की हैसियत में लगान । पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली को मानकर और इस प्रणाली में प्रचलित

अवस्थाओं में यह धारणा सही है—इस अर्थ में कि उसको मुनाफ़ा अपने श्रम के कारण नहीं मिलता बल्कि इसलिये कि वह उत्पादन के साधन का मालिक है। अपना अतिरिक्त श्रम उसको ही प्राप्त होता है। इस प्राप्ति का परिमाण इस पर निर्भर नहीं है कि इस श्रम द्वारा उत्पन्न पैदावार का परिमाण कितना है बल्कि इस पर कि औसत मुनाफ़ा का दर क्या है ? इसी प्रकार अतिरिक्त अर्घ्य से अधिक भाग जिसका औसत मुनाफ़ा से सम्बन्ध है उसको इसलिये मिलता है कि वह ज़मीन का मालिक है। चूँकि इस प्रकार पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली होते हुए भी अर्घ्य का इस प्रकार विभाग किया जा सकता है, यह भ्रम हो जाता है कि प्रकृति में एक ही प्रकार की उत्पादन-प्रणाली है और वह है पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली।

इस प्रकार एक सीमित अर्थ में और कुछ शक्तों के साथ छोटी किसानी में आन्तरिक लगान की उत्पत्ति होती है। यह सम्भव इसीलिये है कि छोटा किसान अपनी ज़मीन का मालिक है और उसके उत्पादन का साधन एक प्रकार की पूँजी है और उसके द्वारा उत्पन्न पैदावार की बिक्री पूँजीवादी बाज़ार में होती है।

निरपेक्ष लगान और
छोटे किसान

एक अर्थ में पूँजीवादी आवेष्टन
में भी निरपेक्ष लगान नहीं होता
यद्यपि आन्तरिक लगान होता है।

मार्क्स के शब्दों में—छोटे किसान के शोषण की मात्रा, यदि वह छोटा पूँजीपति है, इस बात से सीमित नहीं होती कि उसको औसत मुनाफ़ा मिलना चाहिए, और न इस बात से कि उसको लगान की रकम मिलनी चाहिए, यदि वह ज़मींदार है। छोटे पूँजीपति की हैसियत से वह तब तक सन्तोष करेगा जब तक सारा खर्च निकालकर उसको मज़दूरों की रकम मिलती रहे। जब तक उसको

इस तरह की मज़दूरी मिलती रहे यहाँ तक कि जब तक उसको प्राप्त मज़दूरी से केवल मात्र किसी प्रकार से जीवन धारण होता हो तब तक वह ज़मीन जोतता बोता रहेगा। अधिक से अधिक वह अपने पैदावार को बेचकर अपनी श्रम-शक्ति का पूरा अर्थ्य चाहता है ; इस बात पर वह उतारू नहीं है कि उत्पन्न वस्तु का पूरा अर्थ्य या पैदावार का मूल्य उसको मिले।

इसके माने यह नहीं है कि छोटे किसान द्वारा उत्पन्न पैदावार ग्राहकों को सस्ता मिल जायगा। होता यह है कि बीच के लोग—धनी किसान और व्यापारी आदि—उनके पैदावार को खरीद लेता है और बाज़ार भाव पर बेचता है। छोटे किसान के अतिरिक्त श्रम का एक हिस्सा टैक्स आदि में चला जाता है।

माँग और पूर्ति का नियम यदि छोटे किसान के लिये अनुकूल है तो उसके अतिरिक्त पैदावार का अंश निम्नतम सीमा से कुछ उठ सकता है और औसत मुनाफ़ा तक पहुँच सकता है यहाँ तक कि निरपेक्ष लगान की सीमा तक पहुँच सकता है। परन्तु पूँजीवादी अवस्था में हज़ारों करोड़ों किसानों के लिये यही सत्य है कि उसके अतिरिक्त पैदावार का अंश उसकी मज़दूरी से अधिक न होगा।

बारहवाँ अध्याय

पूँजी का एकत्रीकरण और पूँजीवादी सम्बन्धों का पुनरुत्पादन

पूँजी का प्राथमिक
एकत्रीकरण

हमें पहिले निम्नलिखित प्रश्नों
का उत्तर देना पड़ेगा ।

(१) पूँजीवाद-पूर्व सम्बन्धों
से पूँजीवादी प्रथा की उत्पत्ति कैसे हुई ?

(२) पूँजीवादी प्रथा का विकास किस ओर है ? पहला
प्रश्न ले लीजिये ।

सामन्तवादी समाज की टूटती हुई भीत पर और साधारण
वस्तु-उत्पादन प्रथा से पूँजीवाद की उत्पत्ति होती है । एक नये
प्रकार के सम्बन्धों के विकास के लिये आवश्यक अवस्थाओं की
सृष्टि उस युग में होती है जिसको पूँजी के एकत्रीकरण का
प्रारम्भ युग कह सकते हैं । एक ओर तो इससे मुद्दीभर पूँजी-

पतियों के हाथ उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण होता है और दूसरी ओर दासों को मुक्ति मिल जाती है और कारीगर अपने उत्पादन के साधनों से वञ्चित हो जाते हैं और इस प्रकार दोनों सर्वहारा के दल में सम्मिलित हो जाते हैं ।

सामन्तवाद या जागीर प्रथा का अवसान एक दुःखद प्रक्रिया थी । जागीर प्रथा मुख्य तौर पर एक स्वावलम्बित (आत्म-निर्भर) प्रथा थी । सामन्तप्रभु अपने दलबल सहित सामन्तराष्ट्र में उत्पन्न वस्तुओं पर जीवन धारण करता था । विनिमय का अस्तर आवश्यक वस्तुओं पर न था केवल विलासिता की सामग्रियों पर था जिनकी माँग होती थी सामन्तप्रभुओं को । जब तक जागीरदारी प्रथा के अन्दर विनिमय सम्बन्ध साधारण रूप से प्रचलित नहीं हो गया था और जब तक उत्पादन का उद्देश्य विनिमय अर्घ्य नहीं बल्कि व्यवहार अर्घ्य था तब तक किसानों का शोषण एक संकीर्ण सीमा के अन्दर था । मार्क्स ने कहा है कि जब कभी समाज की पहली अवस्था में अतिरिक्त अर्घ्य की सृष्टि होती है तो श्रम असह्य होता है । अतिरिक्त श्रम का रूप होता है वह श्रम जो श्रमिक के शरीर को क्षीण कर देता है । मनुष्य और मनुष्य के बीच नाता होता है स्वार्थ का और नक़द देना पावना का । श्रम का लगान और चीज़ वस्तुओं का लगान दोनों अवस्थाओं को पार कर रुपये पैसे में लगान दिया जाने लगता है । सामन्तप्रभुओं के लिये नौकर चाकरों का झुण्ड और बड़ी बड़ी सेना रखना बहुत महँगा पड़ता है और अनावश्यक भी हो जाता है और इसलिये इसका अन्त होना ही पड़ता है ।

दूसरी ओर घरेलू उद्योग-धन्धों की अवनति होने लगती है । धनी कारीगरों ने काफ़ी तादाद में सहकारी रखे । उनके बीच विरोध बढ़ा । धनी कारीगर श्रेणी-रूप में संगठित हो गये ।

बाज़ार की वृद्धि के और विनिमय-सम्बन्ध के विकास के साथ घरेलू उद्योग-धन्धों में तिजारती पूँजी का प्रवेश होता है और सहकारीवर्ग धनी कारीगरों का अधीनस्थ हो जाता है। व्यापारियों के लिये विनिमय-सम्बन्धों को विस्तार करने की आवश्यकता होती है, और बाज़ारों की परिधि इतनी बढ़ जाती है कि चीज़ बनानेवाले और खरीदनेवाले के बीच सीधा सम्बन्ध कायम नहीं रह सकता। बढ़ती हुई बाज़ार की माँग को घरेलू उद्योग-धन्धा पूरा नहीं कर सकती। घरेलू उद्योग-धन्धों में व्यापारियों का दखल बढ़ता जाता है। कारीगरों का शोषण भी बढ़ता है; बहुतेरे बरबाद हो जाते हैं और सर्वहाराओं की श्रेणीभुक्त हो जाते हैं।

पूँजी के एकत्रोत्करण के आरम्भ के मूल में है उत्पादक का उत्पादन सम्बन्धों से विच्छेद।

इस विकास की क्रिया से श्रम-शक्ति नामक वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। इसी क्रिया के कारण धीरे धीरे बड़े औद्योगिक पूँजीपति पैदा होते हैं। उत्पादन के साधन बर्बाद हुए कारीगरों के हाथ से छिनकर व्यापारिक पूँजीपतियों के हाथ इकट्ठा होने लगते हैं। कारीगरों के शोषण से पूँजीपति को प्रचूर मुनाफ़ा मिलता है। इसमें जोड़िये उपनिवेशों के साथ व्यापार जो क़रीब-क़रीब उपनिवेशों का लूट ही होता है और दासों का व्यापार इत्यादि। उत्पादक और भोगी दोनों के शोषण में व्यापारिक पूँजीपति के हाथ बहुत सा धन इकट्ठा हो जाता है और इस प्रकार बड़े पैमाने पर उत्पादन की बुनियाद पड़ जाती है।

अब दूसरे प्रश्न को ले लीजिये—

पुनरुत्पादन पूँजीवादी उत्पादन का विकास किस प्रकार होता है और यह किस ओर जा रहा है।

तमाम वे पैदावार जिनसे मनुष्य जाति की विभिन्न ज़रूरियात पूरी होती हैं मनुष्य-श्रम की ही सृष्टि हैं ।

चूँकि उत्पन्न वस्तु हमारी ज़रूरियात को थोड़े ही समय के लिये पूरा कर सकता है जिसके बाद फिर दूसरे वस्तुओं की ज़रूरत होती है इसलिये समाज के लिये जिन वस्तुओं की ज़रूरत है उनकी पूर्ति के लिये आवश्यक शर्त है उत्पादन-क्रिया का बारम्बार दोहराना तथा नये सिरे से काम चालू रखना ।

लेकिन उत्पादन-क्रिया मनुष्यकृत उत्पादन के यन्त्रों द्वारा होता है । इसलिये यह स्पष्ट है कि समाज की ज़रूरियात को पूरा करने के लिये न केवल उन वस्तुओं की ज़रूरत होती है जिनसे ये ज़रूरियात पूरी हो सकती हैं बल्कि सामाजिक श्रम का एक भाग इसलिये नियोजित करना पड़ता है कि नियमित रूप से उन औज़ारों को भी पैदा किया जा सके, जिनसे इन वस्तुओं का उत्पादन होता है । उत्पादन-क्रिया के दोहराने और नये सिरे से चालू करने का ही नाम पूँजीवादी समाज में पुनरुत्पादन है ।

यह पुनरुत्पादन होता है सीधा, बढ़ता हुआ, या घटता हुआ ।

सीधा पुनरुत्पादन उस क्षेत्र में होता है जहाँ हर साल पुनरुत्पादन की क्रिया उसी सतह पर रहती है । यान्त्रिक उन्नति जहाँ कम है वहीं ऐसा होता है ; उदाहरण के लिये आरम्भकाल के देहाती पञ्चायतों और घरेलू उद्योग-धन्धों आदि में । पिछड़े हुए आर्थिक संगठन का रूप ही है कि जहाँ आर्थिक उन्नति न होती हो, उत्पादन की क्रिया में वही पुरानी परम्परा चली आती हो, जहाँ हर नवीनता का विरोध होता हो और जहाँ रूढ़िवाद की प्रधानता हो, सीधे पुनरुत्पादन में उन्नति और विकास की गुंजाइश नहीं है ।

बढ़ता हुआ पुनरुत्पादन वहाँ होता है जहाँ पैदावार बढ़ता हुआ पैमाने पर होता है। यह उन आर्थिक संगठनों का रूप है जहाँ उत्पादक शक्तियों का तेज़ी से विकास हो रहा हो। उन्नति और विकास का यही रूप है।

घटता हुआ पुनरुत्पादन वहाँ होता है जहाँ उत्पादन की क्रिया इस प्रकार अपने को दुहराती है कि पैदावार घटते हुए पैमाने पर होता है। इस प्रक्रिया के जारी रहने से उस समाज की अवनति अवश्यम्भावी है जैसे यूनान, रोम आदि में हुआ।

उत्पादन-क्रिया के सिलसिले में मनुष्यों के बीच कुछ उत्पादन सम्बन्धों की भी सृष्टि होता है। इसलिये वस्तुओं के साथ इन सम्बन्धों का भी पुनरुत्पादन होता रहता है।

उत्पादन की क्रिया के सिलसिले में मनुष्यों के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होते हैं उनसे पैदावार का बटवारा इस प्रकार होता है कि भविष्य में भी शासकवर्ग की स्वार्थरक्षा होती है और उनका स्थान बतौर शासक के सुरक्षित रहता है तथा शोषित वर्ग अपने अधीनस्थ स्थान पर ही कायम रहता है। किसी विशिष्ट समाज में उत्पादन सम्बन्ध के पुनरुत्पादन का यही मर्म है और जब तक कोई नयी समाज-प्रथा इसकी जगह नहीं लेती यही व्यवस्था चलती रहती है। नवनिर्मित समाज में भी पुनरुत्पादन-क्रिया के साथ उत्पादन सम्बन्धों का भी पुनरुत्पादन होता रहता है।

सीधा पूँजीवादी
पुनरुत्पादन

पूँजीवादी पुनरुत्पादन भी सीधा
बढ़ता हुआ या घटता हुआ होता है।
पूँजीवादी उत्पादन की कुछ

विशिष्टताएँ हैं :—

(१) उत्पादन के साधन पूँजीपतियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है।

(२) कानून की रूढ़ि से मज़दूर आज़ाद होता है लेकिन उत्पादन के साधनों का मालिक न होने के कारण वह अपनी श्रम-शक्ति की पूँजीपति के हाथ बेचने के लिये मजबूर होता है ।

(३) पूँजीपति द्वारा मज़दूर का शोषण अतिरिक्त-अर्थ का रूप ग्रहण करता है जो कि पूँजीवादी उत्पादन का उद्देश्य है ।

इन तमाम पूँजीवादी सम्बन्धों का जिनकी उत्पत्ति पूँजीवाद-पूर्व और सामन्त तथा घरेलू उद्योग-धन्धों के युग से होती है, पुनरुत्पादन होना आवश्यक है ।

जहाँ तक एक मज़दूर का सम्बन्ध है, जो कि उत्पादन के साधनों से वञ्चित है, एक श्रम-शक्ति के बेचनेवाले की हैसियत से, उत्पादन क्रिया के बाद उसकी स्थिति का पुनरुत्पादन होता रहता है, क्योंकि उसकी मज़दूरी इतनी ही होती है कि श्रम-शक्ति नामक वस्तु को वह बिक्री के उपयुक्त बना रख सकता है यानी वह श्रम के उपयोगी बना रहता है और अपने परिवार का भरण - पोषण कर सकता है, इससे अधिक नहीं । यदि कुछ अरसे तक उसको श्रम-शक्ति के अर्थ से अधिक अर्थ मिलता हो तो उसके पास काफ़ी धन इकट्ठा हो जायगा कि वह पूँजी के अधीनता-पाश को छिन्न कर डालेगा । लेकिन साधारण तौर पर ऐसा होता नहीं है ।

उत्पादन-क्रिया में पूँजीपति के अधिकार की जगह का पुनरुत्पादन तभी सम्भव है जबकि उसके पास पुनरुत्पादन प्रक्रिया के लिये, श्रम-शक्ति की ख़रीद के लिये पूँजी हो, जिस श्रम-शक्ति और उत्पादन के साधनों के संयोग से अतिरिक्त अर्थ की सृष्टि होती है ।

सीधे पुनरुत्पादन में यह किस प्रकार होता है ? वस्तुओं की बिक्री के द्वारा पूँजीपति अपनी पूँजी का अर्थ लौट

पाता है और इसके अलावा अतिरिक्त अर्घ्य भी उसको मिलता है ।

सीधे पुनरुत्पादन में उत्पादन क्रिया को उसी पैमाने पर दुहराया जाता है इसलिये पूँजीपति को उद्योग में दूसरी बार भी उतनी ही पूँजी लगानी होगी जितनी उसने पहली बार लगाई थी । अतिरिक्त अर्घ्य को वह उद्योग में नहीं डालेगा बल्कि अपने ज्ञाती खर्च के लिये इस्तेमाल करेगा ।

किसी मज़दूर के श्रम के दो रूप हैं । एक ओर तो उसका श्रम स्थिर पूँजी अर्थात् मशीन, इमारत, कच्चा माल आदि का एक अंश तैयार माल में रूपान्तरित करता है और दूसरी ओर वह नये अर्घ्य की सृष्टि करता है । इस नये अर्घ्य के एक अंश से मज़दूरी दी जाती है और दूसरा अंश होता है पूँजीपति का अतिरिक्त अर्घ्य । स्थिर और अस्थिर पूँजी का अर्घ्य पूँजीपति के लिये खो नहीं जाता, ये तैयार माल में मौजूद होते हैं और उत्पादन क्रिया के बाद पूँजीपति को यह लौट मिल जाता है । अतिरिक्त अर्घ्य यदि पूँजीपति अपने निजी खर्च में इस्तेमाल करता है तो यह उसको नये पैदावार के अर्घ्य में लौट नहीं मिलता, यह निरा खर्च ही खर्च होता है । सीधे पुनरुत्पादन में पूँजीपति मज़दूरों के शेषण से मूल पूँजी की जगह एक बिलकुल नई पूँजी खड़ा कर देता है ।

जब हम किसी उत्पादन-चक्र को अगले या पिछले उत्पादन-चक्र से स्वतन्त्र रूप से देखें मानों उत्पादन क्रिया एक ही बार हुई और यह दुहराई नहीं गई तो हमें ऐसा दीखेगा कि पूँजीपति जो मज़दूरी बाज़ार में माल बिकने के पहले ही मज़दूर को देता है वह अपने पास से देता है । पुनरुत्पादन के दृष्टिकोण से इन उत्पादन चक्रों को हम विशिष्ट रूप से नहीं देखते बल्कि एक दूसरे से संलग्न रूप में देखते हैं और तब यह स्पष्ट हो

जाता है कि पिछले उत्पादन चक्र में मज़दूर द्वारा उत्पन्न अर्थ से ही अगले उत्पादन चक्र में मज़दूरों को मज़दूरी दी जाती है ।

पुनरुत्पादन के सिलसिले में और एक महत्व की बात हमारी नज़र में पड़ती है । जब उत्पादन की क्रिया में मज़दूर उत्पादन के साधनों का यथा मशीन कच्चा माल आदि का इस्तेमाल करता है तो वह यह काम फ़ैक्टरी के अन्दर करता है जो फ़ैक्टरी मज़दूर की नहीं बल्कि पूँजीपति की सम्पत्ति है । इस क्रिया को उत्पादक इस्तेमाल कहते हैं । यहाँ मज़दूर पूँजीपति के लिये काम करता है । लेकिन श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन की बात भिन्न है । श्रम-शक्ति की पुनरुत्पादन क्रिया क्या है ? यह है मज़दूरों की सब आवश्यकताओं जैसे खाना, कपड़ा, परिवार पालन, वंशरक्षा इत्यादि की पूर्ति । श्रम-शक्ति के उत्पादन को श्रमिक फ़ैक्टरी में नहीं बल्कि घर पर करता है । इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमिक की ज़रूरियात का पूरा होना उसका निजी काम है । लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है । जब वह फ़ैक्टरी में काम नहीं भी करता है तो भी वह पूँजीपति के लिये जीता है । वह खाता पीता अपने लिये नहीं बल्कि इसलिये कि वह पूँजीपति-श्रेणी के लिये अपना श्रम-शक्ति को कायम रख सके ।

सोधा पुनरुत्पादन कोई क्षणिक क्रिया भले ही हो लेकिन अधिकांश रूप से यह आनुमानिक है । वास्तव में ऐसा विरले ही होता है ।

बढ़ता हुआ
पुनरुत्पादन

पूँजीवाद पूर्व पुनरुत्पादन की विशेषता है कि इसका उद्देश्य है भोग । छोटे पैमाने पर वस्तुओं के उत्पादक का उद्देश्य है एक निर्दिष्ट पैमाने के रहन सहन तक पहुँचना ।

दास समाज और सामन्त-समाज का उद्देश्य है गुलामों के द्वारा अतिरिक्त पैदावार की प्राप्ति और दासों के मालिकों के लिये और सामन्तप्रभुओं के लिये एक विलासिता के जीवन को सम्भव बनाना । पूँजीवादी समाज में पुनरुत्पादन का उद्देश्य बिलकुल भिन्न है । यह है अतिरिक्त अर्ध्य के खोज की अथक चेष्टा । पूँजीवादी उत्पादन प्रथा में ही इस उद्देश्य को सिद्ध हो सकती है । मुनाफ़ा का पीछा करने के कारण उत्पादन का अभूतपूर्व विस्तार होता है । व्यक्तिगत रूप से भी पूँजीपति को और पूँजीपतियों के होड़ में पैदावार में वृद्धि करनी पड़ती है । इसलिये पूँजीवादी समाज में सीधा पुनरुत्पादन विरल ही है ।

बढ़ते हुए पुनरुत्पादन के लिये यह आवश्यक है कि पूँजीपति अपने अतिरिक्त अर्ध्य का एक अंश अपने कारोबार को बढ़ाने में यानी मशीन, कच्चा माल, और श्रम-शक्ति आदि खरीदने के काम में लगावे । इस प्रकार पूँजी के कलेवर की वृद्धि के द्वारा वह अतिरिक्त अर्ध्य के परिमाण को बढ़ाता है । इस प्रकार पूँजी के रूप में अतिरिक्त अर्ध्य के प्रयोग को मार्क्स ने पूँजी का 'सञ्चय' नाम दिया है । इसलिये हर बढ़ते हुए उत्पादन को पूँजी का 'सञ्चय' नहीं कहा जायगा बल्कि केवल उनको जिनकी बुनियाद है पूँजीवादी सम्बन्ध पर । पूँजी का सञ्चय रूपों का ढेर लगाना नहीं है । यह तो अतिरिक्त अर्ध्य के ऊपर निर्भर है । अतिरिक्त अर्ध्य इकट्ठा होता है पूँजीपति की सञ्चयवृत्ति के अनुपात में नहीं बल्कि जिस अनुपात में कि वह श्रम शक्ति का शोषण करता है और शोषण की मात्रा पर यह निर्भर है कि कितना अतिरिक्त अर्ध्य वह इकट्ठा करता है ।

इस प्रकार हम नीचे लिखे नतीजों पर उपनीत होते हैं—

(१) कमन्वय बढ़ता हुआ पूँजीवादी पुनरुत्पादन तब होता है जबकि पूँजीपति निजी खर्च के लिये कुल अतिरिक्त

अर्थ को खर्च नहीं करता बल्कि इसके एक भाग को उत्पादन में लगाता है और इससे अपनी पूँजी के कलेवर को पुष्ट करता है ।

(२) पूँजी के राशिकरण से पूँजी और अतिरिक्त अर्थ दोनों की वृद्धि होती है ।

(३) पूँजीवादी राशिकरण की विशेषता यही है कि उसी बढ़ते हुए पैदावार में पूँजीपति को दिलचस्पी है जिससे उसको अतिरिक्त अर्थ की प्राप्ति हो । व्यवहार अर्थ के बढ़ते हुए पुनरुत्पादन के साथ यदि अतिरिक्त अर्थ की वृद्धि न हो तो पूँजीवादी अर्थ में उसको बढ़ता हुआ पुनरुत्पादन नहीं कहा जायगा ।

पूँजी का एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण अब पूँजीवादी विकास की दिशा और मुकाव की ओर हमको गौर करना चाहिये । जो पहली बात हमारी नज़र में पड़ती है वह है बड़ी फ़ैक्टरियों का उद्भव और पूँजी का एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण ।

सञ्चय से पूँजीपति अपना मुनाफ़ा बढ़ाता है और प्रतियोगिता में टिक सकता है क्योंकि कारोबार बढ़ जाने के कारण वह टिकाऊ अधिक होता है ।

पूँजीपतियों के आपसी प्रतिस्पर्धा में सबसे बड़ा हथियार है वस्तुओं को कम मूल्य पर बेचना । और यह करीब करीब स्वयं-सिद्ध बात है कि बड़ा कारोबारवाला सस्ते दाम पर चीज़ बेच सकता है । छोटे कारखानों के मुकाबले में बड़े कारखानों को कई सुविधायें हैं ; जैसे—

(१) यह अपने काम में वैज्ञानिकों और यान्त्रिकों को लगा सकता है और यान्त्रिक उन्नति के द्वारा कम समय में और कम दाम पर चीज़ें पैदा कर सकता है ।

(२) वस्तुविशेष को पैदा करने में वह कुशलता प्राप्त कर सकता है और श्रम के विभाजन के द्वारा वस्तुओं का पैदा करने का लागत दाम कम करता है ।

(३) कारखाने के विस्तार के साथ नफ़री-ख़र्च बट जाता है ।

(४) वस्तुओं की बिक्री और कच्चा माल के ख़रीद में इसको अधिक सुविधा प्राप्त है ।

(५) तिजारती दुनिया में इसकी मर्यादा अधिक है और इसको ज़्यादा रक़म कम सूद पर अधिक समय के लिये कर्ज़ मिल सकता है ।

पूँजीवाद के विकास के साथ उत्पादन और पूँजी दोनों का एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण होता रहता है ।

एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण में अन्तर क्या है ? मार्क्स के शब्दों में हर पृथक् पूँजी-उत्पादन के साधनों का क़मोवेश एकत्रीकरण है और इसका छोटी या बड़ी श्रमिक सेना पर अधिकार होता है । हर सञ्चय नये सञ्चय का साधन बन जाता है । बढ़ता हुआ सम्पद सञ्चित पूँजी का काम करता है और इससे व्यक्तिगत रूप से पूँजीपति के हाथों में सम्पद्राशि एकत्रित होती है और इस प्रकार उत्पादन की बुनियाद बढ़ती है और विशिष्ट प्रकार के पूँजीवादी उत्पादन की नींव पड़ती है । पूँजीपतियों की तादाद बढ़ने से सामाजिक पूँजी में वृद्धि होती है । बाक़ी हालात के समान रहने पर पृथक् पूँजी कुल सामाजिक पूँजी का जो अंश है उसी अनुपात में इसकी और इसके साथ उत्पादन के केन्द्रीकरण में वृद्धि होती है । साथ ही साथ मूल पूँजी के अंश अलग अलग हो जाते हैं और स्वतन्त्र पूँजी बन जाते हैं । पूँजी के सञ्चय के साथ पूँजीपतियों की संख्या बढ़ती जाती है ।

इस प्रकार पूँजी का एकत्रीकरण और सामाजिक पूँजी की वृद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत निकट है। कुल सामाजिक पूँजी के इस प्रकार टुकड़े होने के बाद इनका फिर आकर्षण होने लगता है। इस आकर्षण का रूप पूँजी का सञ्चय नहीं है। यह बनी बनाई पूँजियों का एकत्रीकरण है, जो उनके पृथक् अस्तित्व का अन्त करता है, एक पूँजीपति की पूँजी का दूसरे पूँजीपति द्वारा हड़प लेना है, बहुत से छोटे पूँजीपतियों का थोड़े से पूँजीपतियों में रूपान्तरित होना है। पहले की प्रक्रिया से इसकी भिन्नता यह है कि इसमें जो पूँजी वर्तमान है उसी के बटवारे में परिवर्तन होता है। यह प्रक्रिया कुल सामाजिक पूँजी की वृद्धि से सीमित नहीं है न इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध पूँजी के सञ्चय से है। यहाँ एक आदमी की पूँजी बहुत बढ़ जाती है इसलिये कि बहुतेरे अपनी पूँजी खो बैठते हैं। यही केन्द्रीकरण है जो एकत्रीकरण और सञ्चय से भिन्न है।

पूँजीवाद के विकास के साथ नया कारखाना चलाने के लिये जो कम से कम पूँजी की आवश्यकता होती है उसकी मात्रा बढ़ जाती है। पूँजी का केन्द्रीकरण पूँजी की ताकत को बहुत बढ़ा देती है और पूँजी का सञ्चय भी तेज़ी से होता रहता है।

पूँजीवाद का
यान्त्रिक विकास

किसी भी समाज के, और उसमें पूँजीवादी समाज सम्मिलित है, विकास में यान्त्रिक उन्नति का विशेष स्थान है।

घरेलू उद्योग-धन्धा और दस्तकारी के ऊपर ही पूँजीवाद की बुनियाद है। यद्यपि घरेलू उद्योग धन्धा और दस्तकारी दोनों के लिये शारीरिक श्रम की आवश्यकता है लेकिन पहले ज़्यादा दूसरे में श्रम का विभाजन है। घरेलू धन्धों में से कहीं

पूरा काम दो या तीन आदमी करते हैं और दस्तकारी में कई हाथों से गुज़र कर तैयार माल बनता है और हर आदमी पूरे काम का एक विशिष्ट अंश करता है। दोनों की इस विषय में समानता है कि उत्पादन की प्रक्रिया का कोई वैज्ञानिक विभाजन नहीं है। पूँजीवाद की यान्त्रिक विशेषता यह है कि शारीरिक श्रम की जगह मशीन लेता है। दस्तकारी में उत्पादन-प्रक्रिया के विभाजित कामों को सुचारु रूप से करने के लिये जो औज़ारों बनने लगती हैं उन्हीं से मशीनों की शुरुआत हो जाती है।

मशीनों की उन्नति और मशीनों का विकास बराबर होता आया है। पहले मशीनें हाथ से चलाई जाती थीं, फिर मशीन चलाने के लिये हवा और पानी का इस्तेमाल किया जाता था, अब कोयला और बिजली से चलती हैं। अब मशीनों के कारण न केवल शारीरिक श्रम ही अनावश्यक है बल्कि उसके हुनर की भी कोई उपयोगिता नहीं है। मशीनों के प्रयोग का क्षेत्र भी अब बहुत बढ़ गया है और मशीनों का आकार भी आश्चर्यजनक रूप से बड़ा है।

पूँजीवादी मशीन-युग की विशेषता यह है कि उत्पन्न वस्तुओं के प्रकार ज्यादा नहीं होते। कुछ चुने हुए प्रकार के व्यवहार के उपयोगी और सस्ती चीज़ें बहुत बड़ी तादाद में पैदा की जाती हैं।

बिजली से मशीन-युग का एक नया अध्याय आरम्भ होता है।

(१) इससे दूर की जगहों में अवस्थित मशीनों को चलाने की ताकत पैदा की जा सकती है, (२) सस्ते ईंधन से बिजली पैदा की जा सकती है जैसे तेल, सस्ता कोयला और पानी आदि, (३) प्राकृतिक शक्ति के अभाव से भी इससे मशीनें चलाई जा सकती हैं, (४) कोयले की खान आदि के पास

बिजलीघर पैदा करके जहाँ कच्चा माल पैदा होता हो वहाँ मशीनें खड़ी की जा सकती हैं, (५) बिजली के इस्तेमाल के कारण काम करने की अवस्थाओं में स्वास्थ्य के अनुकूल परिवर्तन हो सकता है, (६) और इसका इस्तेमाल हर जगह हो सकता है, बड़े या छोटे कारखानों में तथा घरों में भी जैसे मशीनों के आकार में वृद्धि हुई है उसी प्रकार बिजलीघर भी अब बहुत बड़े-बड़े बनते हैं, यहाँ तक कि कुल देश में चार-छः केन्द्र से सारे मुल्क को बिजली पहुँचाई जाती है ।

**पूँजीवाद में
छोटे उद्योग**

पूँजीवाद की उच्च विकसित अवस्था में भी बड़े बड़े उद्योगों के बगल में ही छोटे छोटे उद्योग भी चलते रहते हैं । दस्तकारी के काम भी जगह जगह पर चालू रहते हैं । घरेलू धन्धों में व्यक्ति की मर्जी को पूरा करने के लिये पैदा किया जाता है । पूँजीवाद की अवस्था में दस्तकारी और फ़ैक्टरी की चीज़ें व्यक्ति की मर्जी की परवाह नहीं करतीं । जन-साधारण के व्यवहार के लिये तैयार माल बिकता है । गाँवों के बनिस्बत शहरों में और अधिक कारीगर के लिये कोई जगह नहीं रह जाती । कारीगर उन्हीं क्षेत्रों में टिका रहता है जहाँ ग्राहकों की ज़रूरत ज़रूरियात की अलग अलग पूर्ति की ज़रूरत हो जैसे दरज़ी का काम । गाँवों में कारीगर का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है । उसको कच्चा माल दिया जाता है और बहुत कम मज़दूरी पर वह घर पर तैयार माल बनाता है । पूँजीवाद में कारीगर के लिये केवल ग़रीबी ही होती है ।

दस्तकारी की विशेषता यही है कि यह बाज़ार के लिये काम करता है । कारीगर का सम्बन्ध सीधे ग्राहक से है लेकिन दस्तकार के लिये ज़रूरत है एक बीच के आदमी की जो उसकी चीज़ को खरीदकर बाज़ार में बेचे । दस्तकारी का रूप साधा-

रणातः इस प्रकार होता है—उद्योग के सिरे पर होता है एक माल खरीदनेवाला जिसके नीचे हंते हैं हजारों मज़दूर जो घर पर काम करते हैं। इनको वह कच्चा माल देता है और तैयार माल उनसे खरीदता है। कुल माल को वह अकेले बेच नहीं सकता और बिक्री के लिये कुछ बीच के लोगों की सहायता लेता है। मामूली तौर पर काम के घंटे अधिक और मज़दूरी कम, यही हालत रहती है। औरतें और बच्चे भी काम में लगाये जाते हैं। काम करने को हालात बहुत खराब होती हैं। बिखरे हुए होने के कारण मज़दूर संगठित रूप से अपनी हालात को सुधार नहीं सकता। फ़ैक्टरी के कानून इन पर लागू नहीं होते।

मालिक के लिये यह विशेष रूप से लाभजनक है क्योंकि उसको स्थिर पूँजी में कोई रकम नहीं लगानी पड़ती। लाभ के समय आसानी से वह काम बढ़ा सकता है और मन्दा के समय बिना किसी डर के वह मज़दूरों का कोई काम नहीं देता। लेकिन पूँजीवाद में यह अधिक दिन टिक नहीं सकता और इसका अन्त अनिवार्य है।

पूँजीवाद में कृषि पूँजीवाद में कृषि का विकास

छोटे उद्योगों की अवस्था से आगे नहीं बढ़ा होता है। इस प्रकार उद्योग के मुक़ाबले कृषि बहुत पिछड़ी हुई होती है। लेनिन के शब्दों में “शारीरिक श्रम का आधिक्य, साधारण सहयोग, जहाँ तहाँ मशीनों का प्रयोग, तुलनात्मक रूप से छोटे पैमाने पर उत्पादन, ये सब चीज़ें साबित करती हैं कि कृषि आधुनिक मशीन-उद्योग की अवस्था को नहीं पहुँची है। फ़ैक्टरी में उत्पादन-प्रक्रिया की तरह कृषि की प्रक्रिया का एक सिलसिला नहीं है।”

पिछड़ी हुई यान्त्रिक स्थिति के साथ कृषि में साधारण तौर पर छोटे पैमाने पर पैदावार होता है। इसका कारण बतलाते हुए लेनिन ने कहा है:—

“उद्योग में भी बड़े पैमाने पर पैदावार का प्राधान्य इतना निरपेक्ष नहीं है जितना कि लोग समझते हैं। वहाँ भी यह तभी होता है जब बाक़ी सब हालात बराबर हों जो शायद ही होता है। कृषि में इस नियम के प्रयोग की सीमा और भी संकुचित है क्योंकि यहाँ के उत्पादन के हालात और भी विचित्र हैं।”

बड़े पैमाने पर कृषि के रास्ते में रुकावट क्या है? कृषि में मशीनों के प्रयोग में ही कई कठिनाइयाँ हैं। मशीनों का प्रयोग हर प्राकृतिक अवस्था में लाभदायक नहीं होता। उद्योग में साल के सब समय मशीनों का काम चलता रहता है लेकिन कृषि में ऐसा नहीं होता; कुछ मौसमों में ही मशीन का प्रयोग हो सकता है हर मौसम में नहीं।

मशीन का प्रयोग तभी होता है जब यह मनुष्य-श्रम से सस्ता हो। कृषि में श्रम-शक्ति का दर बहुत सस्ता होता है और यही कारण है कि यहाँ मशीन पनपने नहीं पाता।

भूमि-सम्पत्ति ज़मींदार का एकाधिकार होने के कारण, मशीन का मालिक अपने इच्छानुसार कृषि की ज़मीन की सीमा को बढ़ा नहीं सकता। उसी ज़मीन में पूँजी के अधिकाधिक प्रयोग से पैदावार उसी अनुपात में बढ़ता नहीं; यह भी कृषि में मशीन के प्रयोग के लिये बाधा उत्पन्न करता है।

अन्तिम बात यह है कि पिछड़े हुए मुल्कों में मशीनों की उन्नति में भूस्वामियों की कोई दिलचस्पी नहीं होती क्योंकि वह न केवल अतिरिक्त पैदावार का ही मालिक है, वह आवश्यक पैदावार को हड़प लेता है।

**बड़ी किसानी और छोटी
किसानी**

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह सत्य होने पर भी बड़े पैमाने पर खेती की कुछ सुविधायें हैं। रफ़्तार धीमी

भले ही हो लेकिन बड़े पैमाने पर खेती से उत्पादन का एकीकरण कुछ न कुछ होता रहता है।

बड़े पैमाने पर किसानी करने से पैदावार का लागत मूल्य कम होता है। मकान और दीगर खर्च भी कम होते हैं। खेत बड़े होने के कारण अच्छी मशीनों का इस्तेमाल किया जा सकता है। श्रम-शक्ति का भी बेहतर इस्तेमाल हो सकता है। श्रमिकों की तादाद अधिक होने के कारण श्रम का विभाजन भी ढंग से हो सकता है। बड़ी किसानी का यह भी फायदा है कि काफ़ी हुनरमन्द कृषि के विशेषज्ञ भी काम में लाये जा सकते हैं। कर्ज़ और तिजारत के विषय में भी इस क्षेत्र में विशेष सुविधा रहती है। बैंक से भी इसका सम्बन्ध जुट जाता है और कुछ सुविधायें प्राप्त होती हैं।

कृषि में उत्पादन का एकीकरण और छोटा किसान कृषि में उत्पादन के एकीकरण का यह अवश्यम्भावी परिणाम है कि छोटे किसानों का खातमा होने लगता है। बड़े किसान की सुविधाओं

का मुकाबला छोटा किसान कैसे करता है ? उसके पास इसके मुकाबले के लिये है क्या, सिवा अत्यधिक श्रम, भूखा रहना और इस प्रकार की खेती करना जिससे ज़मीन की उत्पादन-शक्ति का क्षय होता रहे।

किसानों को तीन श्रेणी में बाँटा जा सकता है—

(१) धनी किसान जो तिजारत या सूदखोरी से अथवा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से श्रम के शोषण से जीवन धारण करता है।

(२) मध्यम किसान जो किराये पर मज़दूर नहीं रखता, जिसके पास अपने औज़ारों की कमी नहीं है अपने पैदावार का अधिकांश भाग जो अपने लिये खर्च करता है और थोड़ा हिस्सा धनी किसान, व्यापारी और ज़मींदार को देता है।

(३) गरीब किसान जो ज़मींदार तथा उपरोक्त दोनों श्रेणियों द्वारा शोषित होते हैं ।

किसानों की अवस्था के विकास के सिलसिले में किराये पर मज़दूरी का असर बहुत पड़ता है । पूँजीवाद नियमित रूप से थोड़े से मध्यम वर्ग के किसान को धनी किसान बनाता है जो क्रमशः छोटे फिर बड़े पूँजीपति बन जाते हैं और अधिकांश को किराये का मज़दूर बनाता है जो सम्पत्तिहीन होकर अपनी श्रम-शक्ति बेचने के लिये बाध्य है ।

धीरे-धीरे ही सही पूँजीवाद कृषि में प्रवेश करता रहता है और इसका कुछ-कुछ फल भी होता रहता है । जिन बाधाओं के कारण कृषि में पूँजीवाद फैल नहीं पाता उनसे छोटे किसान की ही मुसीबत बढ़ती जाती है । वह अपनी ज़मीन के टुकड़े से चिपटा रहता है और उपवास, गरीबी और अत्यधिक श्रम के अन्दर जीवन निर्वाह करता है ।

पूँजीवाद में कृषि समवाय

कृषि में सहयोग का साधारण रूप होता है—खरीद, बिक्री या ऋज समवाय । कृषि में खरीद या बिक्री के समवाय का वर्णन पहले ही किया जा चुका है । छोटे पैमाने पर पैदा करनेवालों के लिये ऋज समवाय लाभदायक होता है क्योंकि इससे उसको सूदखोर महाजनों के पंखे से छुटकारा मिलता है और उसको कम सूद पर रुपया मिलने लगता है । कृषि में खरीद, बिक्री, या ऋज के समवाय चारों ओर फैले रहते हैं । लेकिन उत्पादन के क्षेत्र में समवाय के लिये यह सही नहीं है । इसका उद्देश्य और गम्भीर है क्योंकि यह उत्पादन के संगठन की प्रक्रिया को सहयोग की बुनियाद पर प्रतिष्ठित करता है । उत्पादन के क्षेत्र में सहयोग के माने हैं ज़मीन के टुकड़ों को एक साथ मिलाना, सबके मवेशी और

औजारों को हस्तेमाल के लिये एकत्रित करना इत्यादि यानी एक शब्द में उत्पादन को सामाजिक बुनियाद पर संगठित करना। पूँजीवाद में यह पनप नहीं सकता, क्योंकि न तो यह पूँजीवादी तरीकों को अपना सकता है और न पूँजीवादी उद्योग की प्रतियोगिता में टिक सकता है। पूँजीवादी बाज़ार, जहाँ व्यक्तिगत रूप से पूँजीपतियों में भीषण प्रतिस्पर्धा जारी रहती है, की परिवर्तनशील हालत में यह आसानी से अपने को खपा नहीं सकता। किसान के दिमाग में सम्पत्ति के ख्याल की प्रबलता भी इसके रास्ते में एक बहुत बड़ा रोड़ा है। किसानों के लिये समवाय के संगठनों में प्रतियोगिता के कारण आपसी झगड़े भी बहुत होते हैं। इन सब कठिनाइयों के बीच भी यदि यह जीता रहता है तो यह किराये के मज़दूरों के शोषण के लिये पूँजीवादी समवाय का रूप ले लेता है। खेती के अगांग के रूप में, जैसे डेयरी आदि में, इसको काफ़ी सफलता मिलती है क्योंकि इसमें निजी सम्पत्ति के त्याग का प्रश्न नहीं उठता।

पूँजीवादी अवस्था में समवाय समितियों को कमी नहीं होती है लेकिन इनसे छोटी किसानों का विकास समाजवाद की दिशा में नहीं हो सकता है। सब किसानों को सहयोग का फ़ायदा नहीं मिल सकता। पूँजीपतियों की प्रतियोगिता में यह अपने संगठन के अन्दर धनी किसानों को ही सम्मिलित करना चाहता है और छोटे किसानों को दूर रखता है। इसकी प्रवृत्ति पूँजीवादी संगठन में रूपान्तरित होने की होती है।

पूँजीवादी संचय का सार्वभौमिक नियम पूँजीपति का मन्त्र है 'संचय'— किसी प्रकार से भी हो। पूँजीवाद का नियम ही उसका इस रास्ते पर ले जाता है। जिस प्रकार से भी संचय हो सकता है वह उसके

लिये अच्छा है। पूँजीपति का उद्देश्य केवल अतिरिक्त अर्घ्य या मुनाफ़ा का परिमाण बढ़ाना नहीं है बल्कि इनको अधिकाधिक संचय का साधन बनाना है।

इस दृष्टिकोण से मज़दूरों से अतिरिक्त अर्घ्य पैदा करने का तरीक़ा, श्रम की कार्य-शक्ति का बढ़ाना, और श्रमिक की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाना महत्व की बातें हैं। साथ ही साथ पूँजीवाद-पूर्व शोषण प्रथा, विशेषकर किसानों का शोषण इसका एक विशेष अंग है।

पूँजी के एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप उत्पादन कला की उन्नति होती है—यानी, पूँजी के आन्तरिक संगठन में वृद्धि होती है। जब तक इस नवीन यान्त्रिक बुनियाद पर उत्पादन-क्षेत्र का विस्तार होता रहता है तब तक श्रमिकों की संख्या में अवश्यमेव वृद्धि होती है। लेकिन श्रमिकों की संख्या-वृद्धि की माँग स्थिर पूँजी की वृद्धि के अनुपात में घटती जाती है। इससे बेकारों की एक रिज़र्व सेना बनती जाती है। पूँजीपतियों के आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण, छोटे और मध्यम पूँजीपतियों की बरबादी से भी इस सेना की वृद्धि होती रहती है। कृषि में पूँजीवाद के प्रवेश से भी बेकारों की भर्ती बढ़ती रहती है। पूँजीवादी उत्पादन कला की उन्नति के साथ मज़दूरों की माँग तो घट जाती है लेकिन औरत और बच्चे अधिक संख्या में काम में लगाये जाते हैं। इनकी और मर्दों की प्रतियोगिता होने लगती है और इस प्रकार भी कुछ मज़दूर बेकार हो जाते हैं। आर्थिक संकट के समय और पूँजीवाद के स्थविर हालत में बेकारों की सेना और बढ़ती रहती है।

इस रिज़र्व सेना के अस्तित्व से श्रम-शक्ति के शोषण का अनुकूल अवस्था की उत्पत्ति होती है और पूँजी के संचय में

वृद्धि होती है। मार्क्स के शब्दों में, “कुल मिलाकर मज़दूरी का तार चढ़ाव सम्पूर्णतया इस बेकार सेना की हासवृद्धि पर निर्भर है और यह औद्योगिक चक्र के सामयिक परिवर्तन के अनुरूप होता है।” फिर “पूँजीवाद के औसत खुशहाली और स्थविर हालत के समय बेकारों की सेना काम में नियुक्त मज़दूरों के लिये एक बोझ के समान होती है। पैदावार की अतिरिक्त वृद्धि के समय भी यह मज़दूरों की माँगों को दबा रखती है। आपेक्षिक रूप से यह अतिरिक्त जनसंख्या ही वह धुरी है जिसके ऊपर माँग और पूर्ति के नियम का चक्र चलता रहता है। यह अतिरिक्त जनसंख्या माँग और पूर्ति के नियम के प्रयोगक्षेत्र को इतना सीमित बना देती है कि पूँजीपति के लिये शोषण-क्रिया बहुत आसान हो जाती है और पूँजी का आधिपत्य क़ायम रहता है।”

इससे मार्क्स ने पूँजीवादी सञ्चय के निम्नलिखित नियम को निकाला—“सामाजिक सम्पत्ति और काम की पूँजी जितनी और जिस तेज़ी से बढ़ती है और इसलिये सर्वहारा की संख्या में और श्रम की उत्पादन-शक्ति में जितनी वृद्धि होती है उतनी ही उद्योग में बेकारों की संख्या बढ़ती है। जिन कारणों से पूँजी की शक्ति का विकास और विस्तार होता है उन्हीं कारणों से पूँजीपतियों को ज़रूरत से ज़्यादा मज़दूर मिल जाते हैं। सम्पत्ति की अन्दरूनी शक्ति के साथ औद्योगिक बेकार सेना की संख्यावृद्धि भी होती है लेकिन काम में लगे मज़दूरों की तादाद के अनुपात में बेकारों की संख्या जितनी अधिक होती है उतनी ही उस अतिरिक्त जनसंख्या की वृद्धि होती है जिनकी मुसीबत उतनी ज़्यादा है जितना कम उनको काम करने को हो। अन्तिम बात यह है कि बेकारों की तादाद में वृद्धि के साथ सरकारी बहीखाता में दर्ज भिखारियों की तादाद बढ़ जाती है।”

इसका फल यह होता है कि पूँजीपति की आमदनी तो बढ़ती रहती है लेकिन मज़दूरों की मज़दूरी घटती रहती है यद्यपि वे अधिकाधिक अर्घ्य की सृष्टि करते रहते हैं।

पूँजी के एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण की क्रिया से बड़ी बड़ी फ़ैक्टरियों में मज़दूर एकत्रित होते जाते हैं। हुनर और ग़ैरहुनर के कामों में प्रभेद की मात्रा घटती रहती है और उनका एका बढ़ता रहता है तथा मज़दूरों के एक देश से दूसरे देश में जाते रहने के कारण उनमें भाईचारा का सम्बन्ध स्थापित होने लगता है। इन्हीं तमाम उपायों से पूँजीवाद अपनी क़ब्र खोदने वालों को भी पैदा करता है।

पुनरुत्पादन और पैदावार के मूल्य की वसूली वस्तु की बिक्री के लिये किन अवस्थाओं की आवश्यकता है? इसका कोई निश्चय नहीं कि आवश्यकता रहने पर वस्तुओं की ख़रीद होगी ही। ज़रूरत यह है कि वस्तु बाज़ार में बिक सके या दूसरे शब्दों में ऐसी अवस्था होनी चाहिए कि ख़रीदनेवाला देर सबेर उस वस्तु का मूल्य चुका सके।

पूँजीवादी समाज में साम्यावस्था के लिये और पुनरुत्पादन की धारा जारी रखने के लिये उत्पन्न वस्तु और उनके बाज़ार के बीच एक सामञ्जस्य होना ज़रूरी है। यह साम्यावस्था टूट जाती है और फिर नवीन अवस्था में साम्यावस्था स्थापित हो जाती है और इस प्रकार पूँजीवादी पैदावार के विभिन्न अंशों में सामञ्जस्य क़ायम हो जाता है। पूँजीवादी उत्पादन और विनिमय के विभिन्न अंश तराजू के दो पल्लों की तरह बराबरी पर आते रहते हैं और इसी के साथ साथ बिक्री का माल और ख़रीदने की ताक़त ये दोनों पल्ले भी बराबर होते रहते हैं।

श्रम के विभाजन और पूँजीवादी समाज में उत्पादन के विभिन्न अंश सम्बन्धित होने के कारण किसी एक उद्योग में

विस्तार या संकोच का प्रभाव दूसरे उद्योगों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। हर उद्योग दूसरे उद्योग के लिए बाज़ार है और अपनी वस्तुओं के लिये इसका बाज़ार दूसरे उद्योग है।

इससे यह स्पष्ट है कि पूँजीवादी पुनरुत्पादन में वस्तुओं की बिक्री का और उत्पादन और उपभोग के सम्बन्ध के प्रश्नों का उत्तर किसी एक पूँजीवर्ति या किसी एक उद्योग के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि सारे समाज के दृष्टिकोण से ही दिया जा सकता है। लेकिन सारे समाज के कोण से दृष्टि डालते हुए यह भूल न जाना चाहिए कि समाज के कई भाग हैं जिनके पल्ले एक दूसरे को बराबर करते रहते हैं और इन भागों को मिलाकर ही पूरा समाज है।

सीधे पुनरुत्पादन में पूँजीवादी उत्पादन के लिये आवश्यक शर्त पूँजीवादी उत्पादन की तमाम शाखाओं को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है—(१) वे उद्योग जिनमें उत्पादन के साधनों को पैदा किया जाता है और (२) वे जिनमें भोगपदार्थ पैदा किये जाते हैं।

मान लीजिये कि उस उद्योग में जिसमें उत्पादन का साधन पैदा किया जाता है (श्रेणी १) पूँजी लगाई गई है ५०००) जिसमें स्थिर पूँजी है ४०००) ६० और अस्थिर पूँजी है १०००) ६० और उस उद्योग में उपभोग के साधन पैदा किये जाते हैं (श्रेणी २) पूँजी लगी है मात्र २५००) ६०

मान लीजिये कि दोनों श्रेणियों में पूँजी के आन्तरिक संगठन का अनुपात है ४ : १ ; दोनों में शोषण का दर है १०० फीसदी ; यह भी मान लीजिये कि पूँजी का हेर फेर एक ही उत्पादन चक्र में हो जाता है और यह भी मान लीजिये कि एक ही बार में स्थिर पूँजी का पूर्णांश बने हुए माल में स्थानान्तरित हो जाता है ; तब यह समीकरण सिद्ध है —

श्रेणी १

४००० स्थिः पू + १००० अः पू + १००० अः अ = ६०००

श्रेणी २

२००० स्थिः पू + ५०० अः पू + ५०० अः अ = ३०००

अब बाज़ार में किस प्रकार से उत्पादन के साधन जिनका अर्थ्य है ६००० और उपभोग के साधन जिनका अर्थ्य है ३००० बिकेगा ? विनिमय केवल इन्हीं दोनों श्रेणियों के बीच नहीं बल्कि दोनों श्रेणियों में आपसी विनिमय भी होता है ।

अब सीधे पुनरुत्पादन के लिये देखा जाय कि दोनों श्रेणियों के माल की बिक्री किस प्रकार से होती है । एक उत्पादन-चक्र के बाद काम फिर से चालू करने के लिये श्रेणी १ को चाहिये ४०००) ६० की मशीन । अब मज़दूर को १०००) ६० की और चूँकि सीधे पुनरुत्पादन में पूँजीपति कुल अतिरिक्त अर्थ्य अपने लिये खर्च कर डालता है इसलिये पूँजीपति को भी १०००) ६० की उपभोग की चीज़ें लेनी पड़ेंगी श्रेणी २ से ।

श्रेणी २ को भी चीज़ें चाहिये श्रेणी १ से । श्रेणी २ को २०००) ६० की मशीनें श्रेणी १ से ही लेनी पड़ेंगी । श्रेणी १ के पूँजीपति और मज़दूर दोनों को मिलाकर २०००) ६० की चीज़ें उपभोग के लिये चाहिये जो उसको श्रेणी २ से ही मिल सकती हैं । इस प्रकार श्रेणी १ की बाकी २०००) ६० की मशीनें बिक जाती हैं और इसके बदले उसको उसी अर्थ्य की उपभोग की चीज़ें मिल जाती हैं । अब श्रेणी २ की २०००) की चीज़ें तो बिक गईं । बाक़ी रहीं १०००) ६० की चीज़ें या ५०० अः पू + ५०० अः अ । लेकिन इसमें सीधे पुनरुत्पादन के नियमानुसार ५००) ६० की चीज़ें जायँगी मज़दूर को और ५००) ६० की चीज़ें जायँगी पूँजीपति को । इसलिये इन दोनों श्रेणियों के विनिमय का अंक है—

श्रेणी (१)

४००० स्थि: पू + १००० अ: पू + १००० अ: अ = ६०००
 और श्रेणी (२) २००० स्थि: पू + ५०० अ: अ + ५००
 अ: अ = ३०००

इस प्रकार श्रेणी (१) की स्थिर पूँजी की यानौ ४०००) ६० की खपत अपना ही श्रेणी में हो जाती है। और श्रेणी २ की १०००) ६० की चीजों की खपत अपनी ही श्रेणी में हो जाती है। अब इन दोनों श्रेणियों में सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है यदि (१) श्रेणी (२) श्रेणी की स्थिर पूँजी की माँग को पूरी करे और श्रेणी (२) श्रेणी (१) के अ: पू + अ: अ के जोड़ के परिमाण की उपभोग की चीजों के दे। इसको इस प्रकार भी चिह्नित कर सकते हैं—(१) श्रेणी के अ: पू + अ: अ = श्रेणी (२) के स्थि: पू। और भी $\frac{\text{अ: पू}}{\text{अ: अ}} = \frac{\text{स्थि: पू}}{२}$ ।

बढ़ते हुए पुनरुत्पादन की साम्यावस्था के लिये आवश्यक शर्तें मार्क्स के शब्दों में—“सञ्चय के लिये अतिरिक्त पैदावार के एक अंश को पूँजी में रूपान्तरित करना ज़रूरी है। लेकिन हम उन्हीं वस्तुओं को पूँजी में परिणत कर सकते हैं जिनका प्रयोग भ्रम की क्रिया में हो सकता है (अर्थात् उत्पादन के साधन) और जिनसे मज़दूर जीवन धारण कर सकता है (अर्थात् जीवन के साधन) इसलिये जो पूँजी की रकम पहले लगाई गई थी उतनी रकम और उद्योग में नियुक्त मज़दूरों के लिये खाने पीने की रकम को पूरा करने के बाद कुछ उत्पादन के अतिरिक्त साधन और जीवन धारण की अतिरिक्त सामग्री को पैदा करने के लिये अतिरिक्त भ्रम के एक अंश का प्रयोग करना पड़ेगा। एक शब्द में अतिरिक्त अर्थ इसलिये पूँजी में रूपान्तरित हो सकता

है कि जिस अतिरिक्त पैदावार का यह अर्घ्य है वही नई पूँजी का वस्तुगत आधार है ।”

उत्पादन के अतिरिक्त साधनों के अलावा अतिरिक्त श्रम-शक्ति की भी आवश्यकता है । मार्क्स के शब्दों में, “पूँजीवादी उत्पादन-शैली पहले से ही इसका इन्तजाम कर रखती है । यह इस प्रकार से कि मज़दूर श्रेणी एक ऐसा श्रेणी बना दी जाती है कि उसको सम्पूर्ण रूप से मज़दूरी पर निर्भर करना पड़ता है और जिस श्रेणी की साधारण मज़दूरी न केवल उसके जीवन धारण के लिये बल्कि उसकी वशरक्षा के लिये भी काफी होती है । पूँजी के लिये इतना ही आवश्यक है कि इस अतिरिक्त श्रम-शक्ति को, जो कि मज़दूरों की तादाद में सालाना वृद्धि के रूप में प्रकाश पाता है, उत्पादन के अतिरिक्त साधनों, जो कि सालाना पैदावार में ही उत्पन्न होता है, के साथ जोड़ देता है और फिर अतिरिक्त-अर्घ्य का पूँजी में रूपान्तरण सम्पूर्ण हो जाता है ।”

इस प्रकार बढ़ते हुए पुनरुत्पादन की यह आवश्यक शर्त है कि पूँजी में अतिरिक्त उत्पादन के साधन और श्रम-शक्ति का समावेश हो ।

सीधे पुनरुत्पादन में श्रेणी (१) का अः पू + अः अ = श्रेणी (२) के स्थिः पू के । लेकिन बढ़ते हुए उत्पादन के लिये पहली श्रेणी के अस्थिर पूँजी और अतिरिक्त अर्घ्य के जोड़ को न केवल द्वितीय श्रेणी की स्थिर पूँजी की माँग को पूरा करना है बल्कि उत्पादन के विस्तार के लिये कुछ अधिक बच रहना भी चाहिए । इसलिये बढ़ते हुए पुनरुत्पादन के लिये श्रेणी (१) के अः पू + अः अ का जोड़ श्रेणी (२) की स्थिः पू से अधिक होना चाहिए ।

मान लीजिये श्रेणी (१) के पूँजीपति अतिरिक्त अर्घ्य का आधा उत्पादन के विस्तार में लगाते हैं । अब यह अंक लीजिये—

श्रेणी (१) ४००० स्थिः पू + १००० अः पू + १००० अः अ = ६०००

श्रेणी (२) १५०० स्थिः पू + ७५० अः पू + ७५० अः अ = ३०००

शोषण का दर दोनों में १०० फ़ीसदी है लेकिन आन्तरिक संगठन का अनुपात पहली श्रेणी में ४ : १ है और दूसरी श्रेणी में २ : १ है। यदि श्रेणी (१) में अः अ का आधा यानी ५०० उत्पादन के विस्तार में लगाया जाय तो नये अंक में ४०० जायगा स्थिर पूँजी को और १०० जायगा अस्थिर पूँजी को। अब देखिये कि ५०० के अर्थ का उत्पादन का साधन बाज़ार में है या नहीं; ६००० के अर्थ का उत्पादन का साधन उत्पन्न किया गया है। इसमें से ४००० श्रेणी (१) को जाता है और १५०० श्रेणी (२) को जाता है। अब ५०० का उत्पादन का साधन बच रहा। आन्तरिक संगठन के पूर्वोक्त अनुपात में ४०० उत्पादन के साधनों के विस्तार में जाता है और १०० जाता है मज़दूरों को, जो इसको उपभोग के वस्तु की खरीद में लगाते हैं।

श्रेणी (२) में क्या होता है? इसके १५०० का वस्तु श्रेणी (१) को जायगा उत्पादन का साधन खरीदने में। ७५० जायगा मज़दूरी में। अब अतिरिक्त अर्थ का ७५० बच रहा। इसमें से १०० जायगा श्रेणी (१) के नये मज़दूरों को भोग की सामग्री देने के लिये। इसके बदले में १०० का उत्पादन का साधन श्रेणी (२) को मिलेगा। इससे श्रेणी (२) के भी उत्पादन का विस्तार सम्भव होता है। यहाँ पूँजी का आन्तरिक संगठन है २ : १। इसलिये जब स्थिः पू को १०० जायगा तो ५० जायगा मज़दूरों को। अब ७५० अतिरिक्त अर्थ से पूँजीपति के अपने लिये बचा $७५० - (१०० + ५०) = ६००$ । इसलिये बढ़ते हुए पुनरुत्पादन का नया अंक होगा—

श्रेणी (१) ४४०० स्थिः पू + ११०० अः पू + ५०० अः अ = ६०००

श्रेणी (२) १६००स्थिःपू+८००अःपू+६००अः अ = ३०००

ऊपर कही गई बातों से श्रेणी (१) और श्रेणी (२) में बढ़ते हुए पुनरुत्पादन के लिये कुछ सम्बन्ध सिद्ध किये जा सकते हैं। (१) श्रेणी (१) या श्रेणी (२) के किसी उद्योग में विस्तार तभी सम्भव है जब दूसरी श्रेणी के भी किसी उद्योग में विस्तार हो।

(२) उत्पन्न वस्तु और खरीद की ताकत दोनों में सामंजस्य होता है।

ऊपर का अंक वैसे तो बहुत सरल है लेकिन वास्तव उत्पादन क्षेत्र में संबंध बहुत जटिल होता है। इस प्रकार उत्पादन के विस्तार के साथ पूँजी के आन्तरिक संगठन में वृद्धि होती है जिसको हमने अपरिवर्तित मान लिया था। विभिन्न उद्योगों में विनिमय का सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि मुद्रा के ज़रिये होता है।

उपरोक्त अंकों से पूँजीवादी उत्पादन और विनिमय के विभिन्न अंशों के विकास में सामंजस्य का महत्व बहुत स्पष्ट है। स्वल्पांश अव्यवस्था से भी, किसी भी उद्योग में अत्युत्पादन या अनुत्पादन से, सारी पूँजीवादी प्रथा में अव्यवस्था फैल जाती है और सामंजस्य टूट जाता है।

उत्पादन में अराजकता सामंजस्य के लिये ऊपर दी गई शर्तों से यह स्पष्ट है कि पूँजीवाद के विकास का रास्ता सरल नहीं है। इसके

रास्ते में काफ़ी उतार चढ़ाव है।

पूँजीवाद-पूर्व युग में भी समाज में अकाल आदि पड़ता था और आधी तूफ़ान आदि के कारण दुर्भिक्ष भी होते थे और वर्तमान पूँजीवादी समाज में भी आर्थिक संकट हो जाते हैं लेकिन आज के संकट अनुत्पत्ति के कारण नहीं बल्कि अत्यु-

त्पत्ति के कारण होते हैं, जब बाज़ार में माल भर जाता है और उनकी बिक्री नहीं हो पाती ।

पूँजीवादी उत्पादन में सामंजस्य क़ायम करने की दो शर्तें हैं—पूँजीवादी उत्पादन की विभिन्न शाखाओं का आनुपातिक विकास और ख़ारीद की ताक़त और उत्पादन में समता । पूँजीवादी ढाँचा के विभिन्न हिस्से एक सूत्र में बँधे होने के कारण किसी एक हिस्से की गड़बड़ी से सारे ढाँचे में उलट पलट होने लगता है ।

पूँजीवादी उत्पादन के आनुपातिक विकास में बाधा डालने की चीज़ें क्या हैं ?

जो ताक़तें पूँजीवादी उत्पादन को विस्तार की ओर ले जाती हैं वे हैं—(१) अतिरिक्त अर्घ्य की तृषा जो मुनाफ़ा का दर गिरते रहने के कारण और तीव्र हो जाती है । (यह पहले ही कहा जा चुका है कि मुनाफ़ा का दर गिरने का मुख्य कारण है, अस्थिर पूँजी की तुलना में स्थिर पूँजी की वृद्धि) ।

(२) प्रतियोगिता, जिसके कारण पूँजीपति को अपनी जगह पर टिके रहने के लिये ही उत्पादन में वृद्धि करनी होगी ।

नतीजा यह है कि पैदावार बढ़ता जाता है और इसके साथ ही साथ पूँजी का आन्तरिक संगठन भी बढ़ता जाता है । यह वृद्धि उत्पादन की हर शाखा में समान नहीं है । श्रेणी (२) की तुलना में श्रेणी (१) में वृद्धि अधिक होती है ।

संचय का अर्थ है कि अतिरिक्त अर्घ्य का एक अंश उत्पादन में लगाया जाता है । यानी पूँजीपति अतिरिक्त अर्घ्य का कुल अंश श्रेणी (२) से भोग की वस्तु ख़रीदने में ख़र्च नहीं कर डालता बल्कि इसका एक अंश

उत्पादन का साधन खरीदने में लगाता है और अल्पांश मज़दूरों के लिये भोग के वस्तु श्रेणी (२) से खरीदने में लगाता है । श्रेणी (२) में भी पूँजी के संचय का यही अर्थ होता है । इस प्रकार बढ़ते हुए पुनरुत्पादन में उपभोग के साधनों की बनिस्वत उत्पादन के साधनों में अधिक वृद्धि होती है ।

विभिन्न उद्योगों का असम विकास और भी असम हो जाता है क्योंकि पूँजी के आन्तरिक संगठन के विभेद के कारण पूँजीपति द्वारा प्राप्त मुनाफ़ा के परिमाण में अन्तर पड़ जाता है ।

पूँजीवादी समाज में लागत पूँजी के अनुपात में मुनाफ़ा मिलता है । चूँकि श्रेणी (१) में पूँजी की लागत श्रेणी (२) से कहीं अधिक होती है इसलिये श्रेणी (१) में मुनाफ़ा का कुल परिमाण श्रेणी (२) के परिमाण से अधिक होता है । इसलिये श्रेणी (२) के बनिस्वत श्रेणी (१) का पूँजीपति उत्पादन के विस्तार में अधिक पूँजी लगा सकता है । इस प्रकार दोनों श्रेणियों के उत्पादन में पूँजी का संचय असम होता है और इससे पूँजीवादी उत्पादन में अनुपात का अभाव और भी अधिक होता जाता है ।

पूँजीवादी संचय के प्रभाव में श्रेणी (१) के वस्तुओं की माँग बढ़ती रहती है और इसके साथ ही साथ उत्पादन के साधनों का मूल्य बढ़ता रहता है । मूल्य की वृद्धि के साथ मुनाफ़ा बढ़ता रहता है । अब सभी पूँजीपति श्रेणी (१) में पूँजी लगाने के लिये झुक पड़ने हैं । इस श्रेणी के उद्योगों का विस्तार तेज़ी से होता रहता है । स्थिर पूँजी का परिमाण बहुत बढ़ जाता है और बड़ी बड़ी फ़ैक्टरियाँ बनने लगती हैं । लेकिन यह माल बाज़ार पहुँचने तक काफ़ी समय लगता है और तब तक मूल्य काफ़ी चढ़ा रहता है और इन उद्योगों में पूँजी आकर्षित होती रहती है ।

लेकिन श्रेणी (२) में उत्पन्न उपभोग के वस्तुओं की माँग आपेक्षिक रूप से घट जायगी । ऐसा होने का कारण यह है कि ज्यों ज्यों संचय बढ़ता जाता है दोनों श्रेणियों के पूँजीपति अपने अतिरिक्त अर्ध्य का अधिकाधिक अंश श्रेणी (१) के उद्योगों में लगाते हैं और इसकी तुलना में बहुत कम अंश अपने या नये नियुक्त मज़दूरों के लिये भोग की वस्तु की खरीद में लगाते हैं ।

अतिरिक्त अर्ध्य का परिमाण बढ़ता जाता है । इसके अनुपात में वह हिस्सा जो पूँजीपति अपने ऊपर खर्च करता है घटता जाता है । पूँजीवादी समाज की कुल आमदनी में मज़दूर का हिस्सा घटता जाता है । इसके मुख्य कारण दो हैं; अस्थिर पूँजी की तुलना में स्थिर पूँजी की वृद्धि होती है और शोषण का दर बढ़ता रहता है । बढ़ती हुई सम्पत्ति का घटता हुआ हिस्सा मज़दूर श्रेणी के भोग में लगता है ।

उपभोग की सामग्रियों और साधनों की माँग कम हो जाने के कारण उनका मूल्य और साथ ही साथ मुनाफ़ा का दर भी घट जाता है । कुछ फ़ैक्टरियाँ अपना पैदावार घटा देती हैं और कुछ बरबाद हो जाती हैं । मज़दूर बेकार हो जाते हैं । उपभोग के साधनों की माँग में और भी कमी हो जाती है ।

फलस्वरूप कुछ समय तक उन उद्योगों का उत्पादन संकुचित हो जाता है जिनमें उपभोग के साधन पैदा किये जाते हैं । इसके कारण उत्पादन के साधनों की माँग में भी कमी पड़ जाती है । क्योंकि जब पैदावार घटने लगता है तो नई मशीनें कौन खरीदेगा ? नतीजा यह होता है कि जब उत्पादन के साधन पैदा करनेवाले उद्योगों का माल बाज़ार पहुँचता है तो उनका कोई खरीदार नहीं रह जाता । बाज़ार की ज़रूरत से ज़्यादा माल उत्पन्न किया गया है । बने हुए माल की बिक्री रुक जाती है और इससे लेनदेन पर बहुत असर पड़ता है और पूँजीवादी

प्रथा में लेन देन का मुकाम बहुत नाजुक होता है। साधारणतया खुशहाली की शुरुआत के समय बेकार पूँजी काफ़ी रहती है, जिसको उद्योग में लगाने की तलाश होती है और इसी कारण सूद का दर बहुत कम होता है। इसके बाद उद्योग पनपने लगता है और कर्ज़ की माँग बढ़ जाती है और सूद का दर बढ़ने लगता है। बाज़ारों की आशाजनक स्थिति से बंकों का कारोबार बढ़ जाता है और वे कर्ज़ काफ़ी देने लग जाते हैं तथा काफ़ी तादाद में नोट और चेक निकालने लग जाते हैं। लेकिन बाज़ार की बिक्री के रुक जाने की ख़बर मिलते ही सूद का दर एकदम चढ़ जाता है। बंक में रुपया जमा करनेवालों में भीति पैदा हो जाती है और सब लोग नोट और चेक और ज़मानती काग़ज़ों को बदलकर सोना लेने के लिये बंक पर दूट पड़ते हैं। लेकिन बक एक साथ सबको रुपया नहीं दे सकती।

मार्क्स के शब्दों में, “आर्थिक संकट के ठीक पूर्व अपनी आर्थिक स्वच्छन्दता के अहंकार में पूँजोपति कहता है कि मुद्रा अलीक कल्पना मात्र है वास्तव केवल है वस्तु। लेकिन अब चारों ओर पुकार मच जाती है, केवल मुद्रा ही वस्तु है। जैसे ताज़ा पानी के लिये जी तड़पता है वैसे ही आत्मा मुद्रा के लिये तड़पती है।”

चूँकि विभिन्न विभाग और सारे उद्योग लेन-देन के सूत्र में बंधे होते हैं इसलिये लेन-देन के संकट में जो उत्पादन के संकट का साथी होता है, बहुत से उद्योग नदी-गर्भ में डूब जाते हैं जो शायद न डूबते यदि वे और उद्योगों से लेन-देन के सूत्र में बंधे न होते।

सूद का दर एकाएक चढ़ जाने के बाद चीज़ों का दाम तेज़ी से घटता रहता है और बिना बिके हुए माल का ढेर लग जाता है। बहुत-सी फ़ैक्टरियाँ पूरे समय तक काम नहीं करतीं,

कुछ बिल्कुल बन्द हो जाती हैं और बहुतेरे पूँजीपति बरबाद हो जाते हैं ।

संकटकाल के बाद हालत सुधरने लगती है उन उद्योगों की जहाँ उपभोग के साधन पैदा किये जाते हैं । धीरे-धीरे जमा हुआ माल कम दाम पर बिक जाता है । नये सिरे से उपभोग के साधनों की माँग होने लगती है और इसके कारण श्रेणी (२) के उद्योगों का भी पुनरुत्थान होने लगता है । फिर मज़दूरों की माँग बढ़ जाती है, मज़दूरों के खाने पीने की चीज़ों की माँग बढ़ जाती है और साधारण तौर पर एक खुशहाली का काल आरम्भ हो जाता है और अन्त में फिर एक नया संकटकाल उपस्थित हो जाता है ।

संकट और भीषण आकार इसलिए पकड़ लेता है कि काफ़ी समय तक अत्युत्पादन होता रहता है और इसका पता तब लगता है जब चीज़ें बाज़ार को पहुँचती हैं । लेन देन की प्रथा के कारण संकट और गहराई तक पहुँच जाता है । खुशहाली के समय पूँजीपतियों को कर्ज़ की सुविधा के कारण नये उद्योग खुलने में काफ़ी सहायता मिल जाती है । अत्युत्पादन के आरम्भकाल में लेनदेन की प्रथा इस बात को ज़ाहिर नहीं होने देती कि अत्युत्पादन हो रहा है । बाज़ार में माल बिकने की कठिनाई होते हुए भी विभिन्न उद्योगों का उत्पादन बढ़ जाता है क्योंकि बंकों से उनको सुविधा प्राप्त होती रहती है । यदि ऐसा न होता तो अत्युत्पादन की बात उनको जल्दी मालूम हो जाती । इस प्रकार अत्युत्पादन होते हुए भी कृत्रिम उपायों से कुछ काल तक खुशहाली बनी रहती है ।

पूँजीपति किन उपायों से संकट को पार करता है ? मार्क्स के शब्दों में, “एक ओर तो उत्पादक-शक्तियों का कुछ अंश बरबस विनष्ट किया जाता है और दूसरी ओर नये बाज़ारों पर

अधिकार होता जाता है और पुराने बाज़ारों का शोषण बढ़ जाता है। लेकिन इसका अन्तिम परिणाम यही होता है कि संकट और विस्तृत और गहरा हो जाता है और इसको पार करने की ताकत पूँजीवाद की घटती जाती है।

इसका नतीजा यह होता है कि

(१) प्रतिस्पर्धा बहुत बढ़ जाती है और इसमें केवल मज़बूत उद्योग टिक पाते हैं। पूँजी का एकात्रीकरण और केन्द्रीकरण और बढ़ जाता है।

(२) श्रम की उत्पादन-शक्ति और उत्पादनकला में उन्नति होती है। कोशिश यह होती है कि वस्तुओं के लागत मूल्य में कमी हो ताकि उनका मूल्य कम होने पर भी मुनाफ़ा में कमी न हो।

(३) मज़दूरों का शोषण बढ़ जाता है।

तेरहवाँ अध्याय

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का पतन

पूँजीवाद और उत्पादक
शक्तियों का विकास

पूँजीवाद जन्म काल से ही प्रति-योगिता के ऊपर प्रतिष्ठित है। जब पूँजीपति उन्नत मशीनों का प्रयोग करता है तो उसको आन्तरिक मुनाफ़ा मिलता है, फिर, धीरे-धीरे वे मशीनें ग्राम इस्तेमाल में आने लगती हैं। प्रतियोगिता से कुछ उद्योगों की बरवादी हो जाती है लेकिन सारे समाज की उत्पादन-शक्तियों का विकास होने लगता है। अन्तिम विश्लेषण करने पर संकट काल से ही उत्पादन की उन्नति और उसका विकास होता है। पूर्ववर्ती संकट के बिना पूँजीवादी समाज में अत्युत्पादन का सवाल उठता ही नहीं। संकट के कारण सैकड़ों छोटे उत्पादनकारियों का जो पिछड़ी हुई उद्योगकला से काम लेते हैं विनाश हो जाता है और आधुनिक मशीनों की बहुत बड़े कारखाने की सृष्टि की बुनियाद पड़ जाती है। उत्पादक-

शक्तियों को विनष्ट करके नई उत्पादक-शक्तियों की स्फूर्त के लिये आवश्यक अवस्थाओं की यह सृष्टि करता है। यह छोटे उत्पादन-कारियों को दूर दिहात से निकालकर फ़ैक्टरियों में काम करने के लिये बाध्य करता है और उनकी मानसिक शक्तियों को विकसित कर मज़दूर सेना का कलेवर बढ़ाता है और इस प्रकार एक नवीन समाज के उत्पादन की सृष्टि करता है। पूँजीवाद के यह उन्नतिशील अंग हैं। लेकिन वर्धिष्णु पूँजीवाद जब साम्राज्यवाद की अवस्था को पहुँचता है तो उसको प्रगतिशीलता का अन्त हो जाता है।

यौथ कारोबार

पूँजीवाद के अन्तिम विकास की अवस्था की विशेषता यह है कि इसमें एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण विराट् रूप धारण कर लेता है। यह एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण बिलकुल नया रूप धारण कर लेता है।

किसी एक की पूँजी से जितना बड़ा कारखाना बन सकता है उससे कहीं बड़ा कारखाना बन जाता है जब वह लेन-देन की सहायता लेता है।

विशेषकर केन्द्रीकरण का एक नया रूप, यौथ कारोबार का महत्व बहुत बढ़ जाता है। पूँजीवादी समाज में कई पूँजीपति मिलकर कम्पनी चलाते हैं। इनमें से हरएक पूँजीपति की पूँजी के कई अंशीदार होते हैं और कारोबार का मुनाफ़ा सबमें बँट जाता है।

यौथ कारोबार में यह ज़रूरी नहीं है कि हरएक का अंश समान हो। कारोबार की सम्पत्ति और इसके मुनाफ़े के ऊपर उसका कितना अधिकार होगा यह निर्भर है इस पर कि कारोबार में उसका अंश कितना है। ऐसे कारोबार में रुपया लगानेवालों में से हरएक को हिस्सेदारी की एक रसीद मिलती है। कारोबार

की व्यवस्था के लिये, अथवा डाइरेक्टर या मैनेजरों के चुनाव के लिये हर हिस्सेदार उतने वोट डाल सकता है जितनी उसके पास रसीदें हैं। इन रसीदों को वह बेच भी सकता है और इसके साथ ही साथ उसके अधिकार भी दूसरे के हाथ में चले जाते हैं। पूँजीवाद की इस अवस्था में यौथ कारोबार का इतना विस्तार क्यों होता है ?

हमने देख लिया कि स्थिर पूँजी की वृद्धि के साथ ग़ैर मनक़ूला सम्पत्ति की तेज़ी से वृद्धि होती है, यथा, इमारत, मशीन, औज़ार इत्यादि की। ग़ैर मनक़ूला सम्पत्ति की वृद्धि के दो नतीजे होते हैं :—

(१) पूँजी को एक उद्योग से हटाकर दूसरे उद्योग में लगाने में बड़ी कठिनाई हो जाती है और इस कठिनाई के कारण विभिन्न उद्योगों के मुनाफ़े बराबरी पर नहीं आ पाते और औसत मुनाफ़ा से इनकी दूरी बढ़ जाती है।

(२) नये कारोबार चलाने के लिये कम से कम आवश्यक पूँजी की रक़म इतनी बढ़ जाती है कि किसी एक व्यक्ति के लिये इसका चलाना असम्भव हो जाता है।

यौथ कारोबार की विशिष्ट सुविधा यह है कि पूँजी आसानी से एक कम्पनी से दूसरी कम्पनी में लगाई जा सकती है। आधुनिक बड़े उद्योगों में पूँजी के हेरफेर की गति बहुत धीमी होने पर भी, व्यक्तिगत रूप से पूँजीपति किसी उद्योग से अपनी पूँजी हटा सकता है क्योंकि वह अपना हिस्सा (या हिस्से की रसीद) बेच सकता है। इसके अलावा भी यौथ कारोबार इसके लिये दरवाज़ा खोल देता है कि आम जनता की छोटी-छोटी बचत की रक़मों को बड़े कारोबारों में लगाया जा सके। यौथ कारोबार बहुत छोटी रक़म की शेयरें निकालकर इस उद्देश्य को हासिल करता है और इस प्रकार जो नया कारोबार कोई एक पूँजीपति नहीं खड़ा कर

सकता था उसकी प्रतिष्ठा अब सम्भव हो जाती है ।

पूँजी इकट्ठा करने के साथ ही साथ कर्ज़ हासिल करना भी आसान हो जाता है । यौथ कारोबार का सामाजिक रूप होने के कारण बकों के लिये भी उनके फर्मों को नियन्त्रित करना सहज हो जाता है ।

डिबेन्चर निकालकर भी ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनी (यौथ कारोबार) अपने कर्ज़ मिलने की रकम बढ़ा लेती है । डिबेन्चर एक प्रकार का सर्टिफ़िकेट होता है जिसका मालिक सूद का एक निश्चित दर पाने का हक्कदार हो जाता है । लेकिन शेयर होल्डर की तरह कम्पनी के बन्दोबस्त में उसकी कोई आवाज़ नहीं होती । किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति न होने के कारण यौथ कारोबार बहुत जनप्रिय हो गया है । किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति न होने पर भी यौथ कारोबार में विराट पूँजी लगती है और छोटे कारोबार या छोटे पैमाने पर उत्पादन करनेवाले इसका मुक़ाबला नहीं कर सकते ।

यौथ कारोबार और
पूँजी का केन्द्रीकरण—
अनुचर कम्पनियों की
प्रथा

पूँजीवादी विकास की हर अवस्था में यौथ कारोबार मिलते हैं लेकिन इसकी आखिरी अवस्था में इनका महत्व बहुत बढ़ जाता है । इससे पूँजीवादी समाज में कौन सी नई बात पैदा हो जाती है ?

वोट की व्यवस्था के कारण यौथ कारोबार धनी शेयर होल्डरों के हाथ में रहता है । देश भर में फैले होने के कारण छोटे छोटे शेयर-होल्डर अक्सर कम्पनी के जलसों में शामिल नहीं होते । उनको अपने अंश का मुनाफ़ा मिलने से मतलब । इस प्रकार मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथ में सारे समाज की पूँजी के केन्द्रीकरण के लिये यौथ कारोबार एक बहुत बड़ा औज़ार

बन जाता है। यह केन्द्रीकरण और भी बढ़ जाता है जब एक कम्पनी दूसरी कम्पनी में हिस्सेदार बन जाती है और इसको अपने प्रभाव में लाने की कोशिश करती है। वर्तमान कम्पनी एक नई कम्पनी के संगठन के लिये शेयरों की बिक्री कर सकती है और इन शेयरों का आधा खुद खरीदकर इस नई कम्पनी का पूरा नियन्त्रण अपने हाथ में रख सकती है। यह नई कम्पनी पुरानी कम्पनी की अनुचर कम्पनी कहलाती है। सारे के सारे उद्योग और बड़े बड़े कारोबार इस प्रकार मुट्ठी भर बड़े पूँजीपति शेयर होल्डरों के हाथ में पड़ जाते हैं।

Dividends, Founder's Profit and Fictitious Capital यौथ कारोबार पर मुट्ठी भर पूँजी-पतियों का प्रभुत्व मुनाफ़ा के विभाजन में अपना असर डाले बिना नहीं रहता। मुनाफ़ा का कुल भाग विभाजित होता भी नहीं। बड़े पूँजीपतियों को दोहरा फ़ायदा मिलता है।

(१) मुनाफ़ा का असली सत्त्व तनख्वाह के रूप में उनको मिल जाता है।

(२) उनके शेयरों की तादाद अधिक होने के कारण मुनाफ़ा का मोटा अंश उन्हीं के पास रह जाता है, बाक़ी शेयर होल्डरों को डिविडेन्ड के रूप में बँट जाता है।

कोई यदि अपना शेयर बेचे तो उसको उतना ही रुपया मिलेगा, जिसका सूद उसके शेयर के डिविडेन्ड के समान हो। शेयर की खरीद की रकम वास्तव में किसी अर्थ का मूल्य नहीं है। उस रुपये से वह ऐसी वस्तु नहीं खरीदता जिसके उत्पादन में आवश्यक श्रम-समय लगा हो बल्कि उससे वह केवल डिविडेन्ड के रूप में एक बँधी आमदनी प्राप्त करने के अधिकार को खरीदता है।

डिविडेन्ड मिलने के हक की खरीद की तुलना ज़मीन की खरीद से की जा सकती है । क्योंकि ज़मीन का कोई निजी अर्थ नहीं होता ; ज़मींदार लगान पाने के अधिकार को बेचता है ; बिक्री का रुपया पूँजी के समान है और लगान इसके अतिरिक्त अर्थ के तुल्य है । इसी प्रकार शेयर की बिक्री का रुपया है जो डिविडेन्ड की पूँजी के समान है ।

लगान के पूँजीकरण की तरह, डिविडेन्ड का पूँजीकरण भी पूँजीवादी समाज के विरोध को प्रतिबिम्बित करता है । एक ओर तो बिना वास्तविक अर्थ के यथा मशीन, कच्चा माल और विशेषकर श्रम-शक्ति के—अतिरिक्त अर्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती ; दूसरी ओर अतिरिक्त अर्थ का विभाजन उसके उत्पादन से इतना विच्छिन्न हो जाता है कि जो कोई रुपया देता है उसको इसका एक हिस्सा पाने का अधिकार मिल जाता है और यह अधिकार पूँजी के रूप में परिणत हो जाता है । यह पूँजी वास्तव पूँजी (मशीन, कच्चा माल, श्रम आदि) से भिन्न है और “कल्पित पूँजी” कहलाती है ।

पूँजीपति श्रेणी श्रमरबेल की तरह परभार्योपजीवी होकर समाज की छाती पर सवार रहती है । पूँजीपति शेयर खरीदता है और डिविडेन्ड लेता है और बाकी उद्योग का प्रबन्ध दूसरों के हाथ में होता है जिनको इस काम के लिये तनख्वाह मिलती है । लेकिन सारे समाज के उद्योगों का नियन्त्रण मुट्ठी भर धनिकों के हाथ होता है ।

अपनी शक्ति का पूरा लाभ उठाकर, जब कभी उनके कारोबार में हानि पहुँचती है, तो ये धनिक नुक़सान का सारा भार छोटे शेयर होल्डरों के कंधे पर डाल देते हैं । कभी कभी नुक़सान की सम्भावना देखते ही वे डिविडेन्ड बढ़ा देते हैं और इस प्रकार लालच देकर अपने शेयर बेच लेते हैं और अन्त

तक उनके शेयर खरीदने वालों को नुकसान उठाना पड़ता है ।

ये शेयर बाज़ार में बिकते हैं और इसके सिलसिले में सट्टा का भी गिवाज चल पड़ा है । शेयरों के दाम बढ़ने के खयाल से शेयर खरीदने की भीड़ पड़ जाती है और जब यह अन्देश होने लगता है कि शेयर का दाम घट जायगा तो शेयर बेचने को लोग उतावले हो जाते हैं । इसमें भी नुकसान अक्सर उन्हीं को होता है जो छोटी रकमों से सट्टा खेलते हैं ।

पूँजीवादी एकाधिकार

की उत्पत्ति

पूँजी का केन्द्रीकरण और एकत्रीकरण इस अवस्था को पहुँच जाता है कि छोटे उद्योग या तो बरबाद हो जाते हैं अथवा ऐसे क्षेत्रों में टिक पाते हैं जहाँ आधुनिक मशीनों से उनकी प्रतियोगिता नहीं होती और नहीं तो उनका काम सम्पूर्ण रूप से बड़े पूँजीपतियों के अधीन रहकर चलता है । ऐसी हालत में जब प्रतियोगिता होती है तो विराट संगठनों में होती है । जिनकी आधिक शक्ति प्रायः समान होती है और जिनके द्वन्द्व का भीषण परिणाम होता है । कोई तरफ़ भी जीते नुकसान बहुत होता है और ज्यों ज्यों पूँजी का आन्तरिक संगठन बढ़ता जाता है और मुनाफ़ा का दर घटता जाता है त्यों त्यों यह लड़ाई और भीषण रूप धारण करती है । आन्तरिक संगठन के बढ़ने के साथ ही साथ एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में पूँजी का डालना और कठिन हो जाता है । मुनाफ़ा का दर घटते रहने के कारण वे सीमायें भी संकुचित हो जाती हैं जिसमें उत्पादन से मुनाफ़ा होता हो । ऐसी हालत में प्रतियोगिता से कुल मुनाफ़ा काफ़ूर हो सकता है । इसलिये पूँजीपति आपस में समझौता कर लेते हैं और प्रतियोगिता की जगह एकाधिकार की स्थापना करते हैं ।

इस प्रकार प्रतियोगिता - विकास प्राप्त होकर अपनी विपरीतावस्था में परिणत हो जाती है। पूँजीवाद के विकास की इस अन्तिम अवस्था को एकाधिकार पूँजीवाद कहते हैं। क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन भी पूँजीपतियों में एका लाने का एक कारण बन जाता है।

एकाधिकार के विभिन्न रूप एकाधिकार का बहुत प्रारम्भिक रूप है कार्टेल। किसी वस्तु विशेष के बनानेवाले आपस में समझौता कर लेते हैं, मूल्य के, बाज़ार में हिस्सा बाँटने के, कर्ज के और कच्चा माल खरीद के निश्चय।

कार्टेल का संगठन इस प्रकार से होता है कि इस बात की निश्चयता नहीं होती कि पूँजीपति अपने समझौता का पूरी तरह पालन करेंगे। होता यह है कि जिन हालात में पूँजीपति यह समझौता करते हैं उनके बदलते ही कार्टेल टूट जाता है। मुद्रास्थिति में परिवर्तन होने से, या दाम अधिक घटने-बढ़ने पर भी कार्टेल का समझौता टूट जाता है। वे कार्टेल की कम-जोरियाँ हैं।

कार्टेल का स्थायित्व कम होने के कारण पूँजीपति अधिक स्थायी संगठन की तलाश में रहता है। वह अब सीन्डीकेट का संगठन करता है। सीन्डीकेट उद्योगों का पूँजीवादी सम्मेलन है जिसमें सम्मिलित उद्योगों की व्यापारिक स्वतन्त्रता लुप्त हो जाती है। सीन्डीकेट सम्मिलित उद्योगों के कुल माल की बिक्री का बन्दोबस्त करता है और यह भी निश्चय करता है कि किस दाम पर माल बिके। इन कामों के लिये एक कम्पनी बनती है जो इन सम्मिलित उद्योगों के कुल माल को खरीद लेती है और एक एकाधिकारी संगठन के तौर पर अपने निश्चित दाम पर ग्राहकों को माल बेचती है; इस तरह के संगठन के

साथ प्रतियोगिता करने को कोई रह नहीं जाता। सम्मेलन के भिन्न भिन्न उद्योग इस कम्पनी के शेयर खरीद लेते हैं।

सीन्डीकेट में सम्मिलित उद्योगों को स्वतन्त्र रूप से अपना अपना रास्ता अखिल्यार करने की आसानी नहीं होती क्योंकि सीन्डीकेट इनका बाज़ार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने नहीं देता। लेकिन यह सम्मिलित उद्योगों की आपसी प्रतियोगिता को ख़तम नहीं कर सकता। जब चीज़ों का दाम बढ़ जाता है तो सीन्डीकेट का हर सदस्य अधिक से अधिक मुनाफ़ा के लिये अधिक से अधिक माल पैदा करना चाहता है लेकिन सीन्डीकेट को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं क्योंकि ज़्यादाह माल बाज़ार पहुँचने से माल का दाम घट जाता है। इस अन्तर्विरोध के कारण सीन्डीकेट भी टिकाऊ नहीं हो पाते।

अब पूँजीपति और भी सुसम्बद्धित संगठन कायम करना चाहता है, वह ट्रस्ट खोलता है। इसमें सम्मिलित उद्योगों की स्वतन्त्रता सम्पूर्ण रूप से चली जाती है। ट्रस्ट को पूरा अधिकार होता है कि इसमें सम्मिलित उद्योगों का चाहे जैसा प्रबन्ध करे, यहाँ तक कि ज़्यादाह पिछड़ी हुई शाखाओं को यह बन्द भी कर सकता है।

ट्रस्ट उन फ़ैक्टरियों को बन्द करके जहाँ पैदावार का लागत मूल्य अधिक होता है और उन फ़ैक्टरियों को उत्पादन का केन्द्र बनाकर जहाँ लागत मूल्य कम होता है, अपने लिये मुनाफ़ा अधिक कमाता है और मज़बूती से उनकी प्रतियोगिता करता है जो ट्रस्ट के बाहर फ़ैक्टरियों में चीज़ें पैदा करते हैं। ट्रस्ट की सबसे बड़ी सुविधा यह है कि यह अपने अन्तर्गत उद्योगों में आपसी प्रतियोगिता बिलकुल भी नहीं होने देता।

ट्रस्ट उस प्रतियोगिता का तो अन्त कर देता है जो एक

ही प्रकार की चीजें बनानेवाले उद्योगों में होती है लेकिन इससे उन उद्योगों की प्रतियोगिता खत्म नहीं हो जाती जिनमें ट्रस्ट के ही फ़ैक्टरियों के लिये कच्चा माल इत्यादि उत्पन्न किया जाता है। जैसे, मान लीजिये कोई स्टील का ट्रस्ट है ; इसको केवल स्टील की फ़ैक्टरियों का ही मुक्ताबला नहीं करना होता बल्कि कच्चा लोहा पैदा करनेवाले उद्योगों से भी इसकी प्रतियोगिता हो सकती है और कच्चा माल ज्यादा दाम पर मिलने से इसको प्रतियोगिता में कठिनाई पड़ेगी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिये विभिन्न अवस्थाओं पर कच्चे माल के उत्पादन के भिन्न-भिन्न उद्योगों को एक सूत्र में बाँधा जाता है। इसमें वे उद्योग भी शामिल हैं जिनमें मुख्य पैदावार के साथ-साथ गौण पैदावार भी किया जाता है।

इस प्रकार से इन उद्योगों के एक सूत्र में बँधने के कई लाभ हैं :—

- (१) यह व्यापार की चञ्चलता को रोकता है।
- (२) इसमें मुनाफ़ा का दर क़रीब-क़रीब एकसाँ रहता है।
- (३) इससे यान्त्रिक और उद्योग कला की उन्नति होती है।
- (४) मन्दी के समय भी इनके टिकने की शक्ति अधिक होती है।

पूँजीवादी एकाधिकार और विरोधी संगठन पूँजीवादी एकाधिकार की स्थापना से विरोधी संगठनों का एकदम अन्त नहीं हो जाता। इनसे लड़ने में पूँजीपतियों को खर्च भी काफ़ी करना पड़ता है। वे लड़ने के जो विभिन्न तरीक़े इस्तेमाल करते हैं वे ये हैं—

- (१) विरोधियों को बरबाद करने के लिये वे घाटा सह-कर अपना माल बेचते हैं।

(२) षड्यन्त्र या इक्करारनामा के ज़रिये प्रतिस्पर्धियों के पास कच्चा माल पहुँचने से रोकते हैं ।

(३) ट्रेड युनियन या व्यवसाय संघ से समझौता करके प्रतिस्पर्धियों को श्रम-शक्ति का इस्तेमाल करने से रोकना ।

(४) प्रतिस्पर्धियों को रेलकर्ज़ आदि की सहूलियतों से वंचित करना, यहाँ तक कि उनके मालगुदाम आदि को भी विस्फोट से उड़ा देना ।

नतीजा यह होता है कि या तो ये प्रतिस्पर्धी बरबाद हो जाते हैं या इन प्रतिस्पर्धियों का अलग एकाधिकारी गुट बन जाता है जो संगठित रूप से अपना विरोध चलाते रहते हैं ।

ये पूँजीवादी एकाधिकारी गुट केवल उन्हीं चीज़ों का उत्पादन असंगठित उद्योगों के लिये छोड़ देते हैं जिनकी माँग के परिमाण की स्थिरता नहीं है । इस प्रकार मन्दी के समय ये असंगठित उद्योग इस एकाधिकारी गुट की रक्षा का काम करते हैं ।

**बैंक पूँजी और
औद्योगिक पूँजी का
सम्मिश्रण — फाइनेंस
कैपिटल की उत्पत्ति**

केन्द्रीकरण और एकाधिकार की एक सीमा के बाद एकाधिकार एक नया रूप धारण करने लग जाता है, जब बैंक अपनी पूँजी औद्योगिकों के हाथ उनके कारोबार बढ़ाने के लिये देता है । बकों को सहायता से उत्पादन-वृद्धि की नई सम्भावनायें पैदा हो जाती हैं और प्रतियोगियों को कुचलने के लिये भी बैंक एक नया अस्त्र बन जाता है । कम्पनियों के शेयर और डिबेंचर अब बकों के ज़रिये बिकने लगता है । बैंक भी अपनी स्थिति के कारण उद्योगों पर अधिकार जमा लेता है और उत्पादन-क्रिया को अपनी इच्छा के अनुसार सञ्चालित करता है । बैंक स्वयं ही औद्योगिक कारोबार का एक हिस्सादार बन

जाता है। जेयेन्ट स्टॉक कम्पनियों के शेयरों की खरीद विक्री भी बंकों के मारफ़्त होने लगती है और इस प्रकार बंक विशिष्ट उद्योगों में पूँजी का परिमाण घटा बढ़ा सकता है और उद्योग-धन्धों का पूरी तरह नियन्त्रण कर सकता है और औद्योगिक कारोबार का सामीदार बन जाता है। बंक की पूँजी और औद्योगिक पूँजी इस तरह मिल-जुल जाती है कि बंक का मालिक उद्योग का मालिक और उद्योग का मालिक बंक का मालिक बन जाता है। इस तरह की मिली जुली पूँजी को फ़ाइनेन्स पूँजी कहते हैं।

जिस प्रकार उद्योग-धन्धों की आपसी प्रतियोगिता में बड़े-बड़े उद्योग ही रह जाते हैं और वह भी एकाधिकार के रूप में उसी प्रकार बंकों की प्रतियोगिता में भी बड़े बड़े बंक रह जाते हैं और उनका एक गुट बन जाता है। बंक और उद्योगों के गुटों की सम्मिलित पूँजी अब सारे देश के और कभी कभी कई देशों के उत्पादन के साधनों और कच्चे माल को नियन्त्रित करने लग जाता है। एकाधिकार पूँजीवाद की इस परिणति को साम्राज्यवाद कहते हैं।

फ़ाइनेन्स पूँजी और पूँजी-वादी राष्ट्र का एकीकरण पूँजीवाद के विकास के साथ राष्ट्र और कुल पूँजीपतिवर्ग का स्वार्थ एक होता जाता है। फ़ाइनेन्स पूँजी की उत्पत्ति के साथ राष्ट्र पूँजीपतिवर्ग के केवल उस हिस्से का प्रतिनिधित्व करता है जो फ़ाइनेन्स पूँजीपतियों का गुट होता है।

आधुनिक सरकार चलाने के लिये विशाल धनराशि की आवश्यकता होती है और अक्सर उसको सूद पर रखा इकट्ठा करना पड़ता है। इस काम के लिये बंक सहायक होता है और इस प्रकार राष्ट्र फ़ाइनेन्स पूँजीपतियों के अधीन हो जाता है।

जब राष्ट्र अपनी फ़ैक्टरियाँ और रेल आदि चलाता है तो

बहसियत एक पूँजीपति के वह फाइनेंस पूँजीपतियों की प्रतियोगिता से बच नहीं सकता और फलस्वरूप या तो उसको फाइनेंस पूँजीपतियों के गुट के साथ मिल जाना पड़ता है नहीं तो फाइनेंस पूँजीपति उसके साथ वैसे ही पेश आते हैं जैसे और प्रतियोगियों के साथ। वे देश के अखबारों को भी अपने अधीन करके उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार एकाधिकार पूँजी, बंक और राष्ट्र का एक जबरदस्त सम्मिश्रण बन जाता है।

**एकाधिकार उत्पादन और
विनियम का नियन्त्रक**

हर मुल्क का नियन्त्रण एक एकाधिकारी पूँजीवादी गुट के द्वारा होने का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि हर देश एक आर्थिक एकक बन जाता है और कम से कम उस देश की सीमा के अन्दर उत्पादन के सिजसिले में कोई गड़बड़ी रह नहीं जाती लेकिन ऐसा समझना भूल होगा। पूँजीवादी एकाधिकार में अर्थ के नियम का व्यतिक्रम नहीं होता। न तो निजी सम्पत्ति का ही विनाश होता है। बहुतेरे छोटे छोटे उद्योग अब भी वर्तमान रहते हैं। यद्यपि काफ़ी मात्रा में प्रतियोगिता का अन्त हो जाता है लेकिन उद्योग के बड़े बड़े सर्दारों के स्वार्थों का संघात होता रहता है। कच्चा माल के एकाधिकारी पूँजीपतियों से उद्योगी गुट का विरोध बना रहता है क्योंकि ये कच्चा माल सस्ता दर में लेना चाहते हैं। गुरु-उद्योग में, जैसे उन उद्योगों में जहाँ लोहा आदि का माल पैदा किया जाता है और हल्के उद्योगों में अर्थात् उन उद्योगों में जिनमें उद्योग के साधन पैदा किये जाते हैं, विरोध होता रहता है। इन कारणों के अलावा मुनाफ़ा का पीछा करने के कारण उत्पादन को विभिन्न शाखाओं का समान विकास नहीं होता। इन सब कारणों से उत्पादन के क्षेत्रों में अराजकता वर्तमान रहती है और शासकवर्ग में विरोध और संघर्ष होता रहता है

एकाधिकारी उत्पादन में श्रद्ध के नियम में सामान्य परिवर्तन होता है ।

(१) पूँजीवादी एकाधिकार में भी वस्तु का मूल्य मनमाना नहीं लगाया जा सकता है । इसका कम से कम मूल्य होगा उत्पादन का लागत दाम और ज़्यादा से ज़्यादा जिस मूल्य पर आम लोग खरीद सकें । इससे अधिक दाम होने पर वस्तु की माँग घट जायगी और सम्भव है पूँजीपति का मुनाफ़ा भी घट जाय ।

(२) लेकिन प्रतियोगिता क़ायम रहने पर जो मूल्य होता है उससे एकाधिकार में अधिक मूल्य होता है क्योंकि एकाधिकार एक उद्योग से दूसरे उद्योग में पूँजी के प्रवाह को रोकता है ।

(३) एकाधिकार में पूँजीपति उस मूल्य पर चीज़ बेचता है जिससे उसकी सबसे पिछड़ी हुई फ़ैक्टरी में भी बनी चीज़ के ऊपर उसको औसत मुनाफ़ा मिल सके । इस कारण अधिक उन्नत फ़ैक्टरियों को औसत से अधिक मुनाफ़ा मिलता है जिसको 'काटेल' का आन्तरिक लगान कहते हैं ।

(४) एकाधिकारी के अतिरिक्त मुनाफ़ा का उद्गम है (क) असंगठित कारोबारों, जो एकाधिकारी के उत्पादन के दायरे में पड़ जाते हैं, के अतिरिक्त श्रद्ध का एक अंश (ख) वास्तव मज़दूरी में कमी, क्योंकि मज़दूरों को अधिक दाम पर अपनी ज़रूरत की चीज़ें खरीदना पड़ता है ।

(५) सारे समाज की कुल वस्तुओं का मूल्य बराबर होता है उनके लागत मूल्य और कुल मुनाफे के जोड़ के अर्थात् उनके श्रद्ध के । हाँ, इस मुनाफ़ा का बँटवारा असममान होता है और पूँजीवादी एकाधिकार की अवस्था में मज़दूरों का शोषण कहीं अधिक होता है ।

(६) ट्रस्टों के अतिरिक्त मुनाफ़ा के कारण उनके मुक़ाबले के लिये स्वतन्त्र उत्पादनकारी अलग ट्रस्ट क़ायम करते हैं जिससे

अतिरिक्त मुनाफ़ा घट जाता है और मुनाफ़ा का दर समान होने लगता है। लेकिन वर्तमान असम पूँजीवादी विकास में मुनाफ़ा का बिलकुल बराबर होना असम्भव है।

विदेशों के बाज़ारों पर हमने देख लिया कि मूल्य की सतह कायम रखने के लिये उत्पादन घटाना पड़ता है। लेकिन एक हद

तक ही ऐसा करना लाभदायक होता है और पूँजीवादी विकास का बहाव इस ओर नहीं हो सकता। ऐसा घटित होना पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के नियमों के विरुद्ध होगा क्योंकि मुनाफ़ा का खोज और संचय-वृत्ति ही इस प्रक्रिया के मुख्य अंग हैं। उत्पादन के संकोच से वस्तु के लागत दाम में वृद्धि होती है और इस प्रकार मुनाफ़ा में कमी हो जाती है।

लेकिन एक सीमा तक कुछ उपाय है। देश की सीमा में वस्तुओं के उत्पादन का संकोच करते हुए भी उनकी बिक्री विदेश के बाज़ारों में हो सकती है। इस तरह उत्पादन के संकोच की आवश्यकता नहीं रह जाती और अधिक उत्पादन के साथ अधिक मुनाफ़ा की सम्भावना पैदा हो जाती है। विदेशों का बाज़ार एक कुएँ की तरह है जिससे आवश्यकता पड़ने पर पूँजीपति अपनी तृषा मिटा सकता है। विदेशों के बाज़ारों की ज़रूरत को पूरा करते हुए पूँजीपति अपने देश में महँगे दामों चीज़ बेचता है। विदेशों में वह उन्हीं चीज़ों को सस्ते दामों पर यहाँ तक कि नुक़सान पर भी बेचता है और इस कमी को देशवासियों से वह पूरा करता है। विदेशों में सस्ते दाम पर चीज़ बेचकर वह उस देश के पूँजीपतियों का मुक़ाबला करता है और इस प्रकार से जब वह उनके कारोबार को नष्ट कर देता है फिर वह साधारण मूल्य पर चीज़ों को बेचने लगता है, यहाँ तक कि फिर वह अपने मुल्क में प्रचलित दाम से अधिक मूल्य

पर चीजें बेचने लग जाता है। इस प्रकार से एक सीमा तक पैदावार बढ़ाई जा सकती है, इसके बाद नये बाजारों की खोज होने लगती है। इस तरह बाजारों पर कब्ज़ा पाने के लिये एक होड़ पड़ जाती है और झगड़ा बढ़ता ही जाता है।

अब विदेशों के बाजारों पर अधिकार पाने के लिये विभिन्न मुल्कों के एकाधिकारी संगठनों में संघर्ष और विरोध होने लगता है। यह विरोध विश्वव्यापी हो जाता है और भिन्न भिन्न देशों के विराट् पूँजीपति दैत्य जमकर लड़ने लग जाते हैं।

देश विशेष का एकाधिकारी संगठन अपनी रक्षा के लिये राष्ट्र के साथ सम्पूर्ण रूप से सम्मिलित हो जाता है और अपने देश के बाजार को विदेशियों की प्रतियोगिता के क्षेत्र से अलग रखना चाहता है। इसके लिये राष्ट्र अपने मालिकों के आदेश पर बाहर से आने वाली वस्तुओं पर आयात-कर लगाता है। इसके कारण बाहर से आई हुई चीजों का दाम देश में उत्पन्न वस्तुओं के मुकाबले बढ़ जाता है।

फ्राइनेंस पूँजी की उत्पत्ति के पहले पिछड़े हुए मुल्क रक्षा-कर इसलिये लगाते थे कि चीजों की बिक्री से उत्पादन का लागत दाम और औसत मुनाफ़ा मिल सके तथा देश की उत्पादक शक्तियों के विकास के लिये अनुकूल अवस्था की उत्पत्ति हो। फ्राइनेंस पूँजी की उत्पत्ति के बाद यह कर इसलिये लगाया जाता है कि एकाधिकार का अतिरिक्त मुनाफ़ा क़ायम रहे। इस कर के प्रयोग का क्षेत्र जितना विस्तृत होता है उस देश के एकाधिकारी पूँजीपतियों का बोलबाला भी उतना अधिक होता है।

विदेशी बाजारों पर अधिकार जमाते हुए देश विशेष का पूँजीवादी गुट उनको इन करों के प्रयोगक्षेत्र की सीमा के अन्दर लाना चाहता है और उनको दूसरे पूँजीवादी गुटों के संस्पर्श से अलग रखना चाहता है। इसका परिणाम यह होता है कि इन

भाज़ारों को अर्थात् इन देशों को विजित देश या उपनिवेश बना कर रखना पड़ता है ।

पूँजी का निर्यात

यह स्वतःसिद्ध है कि यदि आयात-कर के कारण बने हुए माल का आना बन्द हो जाय तो दूसरे देश वहाँ पूँजी का निर्यात करेंगे । सोना में किसी देश विशेष का छाप नहीं लगा रहता और बने हुए माल के बनिस्वत यह ज़्यादाह आसानी से देशों की सीमायें पार कर सकता है ।

पूँजी के निर्यात का एक रूप होता है यह कि एक देश का पूँजीपति या सरकार दूसरे देश को कर्ज़ देते हैं । इसके लिये उनको ऊँचे दर पर सूद मिलता है और व्यापारिक या दूसरे प्रकार की सन्धियों के रूप में विशेषाधिकार मिलते हैं और रेल आदि बनाने की भी इजाज़त मिलती है ।

प्रत्यक्ष रूप से भी पूँजी का निर्यात होता है । एक देश का पूँजीपति दूसरे देश में बक खोलता है, उद्योग धन्धे खोलता है तथा वहाँ के कारोबारों का हिस्सा (शेयर) खरीदता है । कर्ज़ के लिये जैसे उसको सूद मिलता है वैसे ही उद्योग-धन्धों के कारण मुनाफ़ा मिलता है ।

उपनिवेशों की लड़ाई

और दुनिया का

बटवारा

जिन पिछड़े हुए देशों में यान्त्रिक उन्नति नहीं हो पाई है वहाँ आगे बढ़े हुए मुल्कों के बनिस्वत मुनाफ़ा का दर अधिक होता है और इसलिये वहाँ पूँजी आकर्षित होती है । वहाँ पूँजी का आन्तरिक संगठन कम होता है और भ्रम-शक्ति सस्ती होती है । कच्चा माल भी वहाँ प्रचुर मिलता है और जहाँ कच्चा माल मिलता है उसी स्थान पर तैयार माल बनाना ज़्यादाह सस्ता पड़ता है ।

ज़मीन का लगान तथा दूसरे कारणों से आगे बढ़े हुए

मुल्कोंमें, उद्योग के मुकाबले कृषि का विकास धीमे होता है। लेकिन वहाँ के उद्योगों के लिये कच्चा माल तो चाहिए ही । यह पिछड़े हुए मुल्कों से मिलता है जो प्रायः उष्ण प्रदेश भी हैं। और कुछ विशिष्ट प्रकार के कच्चा माल जैसे रुई आदि उष्ण प्रदेशों में ही मिलते हैं। अक्सर कोयला और सोना भी यहाँ मिलते हैं। इन पिछड़े हुए मुल्कों में प्राकृतिक चीजें क्या मिलती हैं इसका पूरा पता नहीं लगाया गया है। इन पिछड़े हुए मुल्कों को उपनिवेश बनाने का और वहाँ के निवासियों के रक्त शोषण का इतिहास पूँजीवादी विकास के इतिहास के सबसे काले पन्ने हैं।

उपनिवेशों में दासप्रथा छिपे रूप में वर्तमान रहती है। उस देश के मज़दूरों की मज़दूरी इतनी कम होती है कि उनको भूखा मरना पड़ता है। इधर मज़दूरों की जीवनधारण की सामग्रियाँ बहुत महँगी हो जाती हैं क्योंकि पूँजीपति अच्छी ज़मीन अपनी ज़रूरत की चीज़ों को पैदा करने के लिये ले लेता है। वहाँ की जनता को उसी सेना को जिलाने के लिये रुपया देना पड़ता है जो उनको गुलाम बनाये रखती है।

अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादो
गुट और पृथ्वी के पुन-
विभाजन की लड़ाई

बाज़ार और कच्चा माल के लिये पूँजीवादी गुटों की लड़ाई का यह परिणाम है कि शक्तिशाली पूँजीवादी मुल्कों ने सारी दुनिया को बाँट लिया है। अकेले ग्रेटब्रिटेन के पास १४० करोड़ वर्ग किलोमीटर हैं यानी सारी दुनिया की सतह का $\frac{1}{3}$ हिस्सा। खुद ब्रिटेन का रकबा है ३ लाख वर्ग किलोमीटर और उसकी आबादी ४ करोड़ ७० लाख। फ्रांस का रकबा है ५० लाख वर्ग किलोमीटर तथा उसकी आबादी ४ करोड़ और इसकी अधिकृत ज़मीन का रकबा है १ करोड़ दस लाख वर्ग किलोमीटर और लोक संख्या ५३ करोड़।

दुनिया के बँटवारे में जो हिस्सा औद्योगिक पूँजीवादी गुटों को मिलता है उससे वे सन्तुष्ट नहीं रहते । वर्धिष्णु सचय, और मुनाफ़ा की तृषा पूँजीपतियों को उत्पादन के तथा बढ़ते हुए माल के बाज़ार के, और वृद्धिमान पूँजी के प्रभाव के दायरे के विस्तार के लिये बाध्य करता है । इस चेष्टा में एक देश दूसरे देश और उसके क़ब्ज़े में उपनिवेशों पर हमला करता है और छोटे-छोटे अर्धस्वतन्त्र राष्ट्रों को अपने प्रभाव के अधीन रखना चाहता है ।

अत्यधिक रक्षा-कर जिससे जनता की बरबादी होती है, विदेशों को सस्ते माल से छा देना और उनमें बहुत कम सुद पर तथा नुक़सान सहकर क़र्ज़ देना, मज़दूरों का शोषण और उपनिवेशों का रक्त-शोषण, यही तरीक़े हैं जो पूँजीवादी अख़्तियार करता है ।

विरोधी जो कमज़ोर होता है वह बरबाद हो जाता है या शक्ति-शाली गुट के प्रभाव में आ जाता है और जब विरोधी शक्ति-शाली होता है तो उनमें एक प्रकार का समझौता हो जाता है । इस प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी गुट की सृष्टि होती है जो बाज़ार और प्रभाव के क्षेत्रों का बँटवारा कर लेते हैं । लेकिन यह समझौता टिकाऊ नहीं होता और विरोध उभड़ ही पड़ता है ।

किसी गुट को बँटवारे में कितना हिस्सा मिलेगा, यह उसकी शक्ति के ऊपर निर्भर है । किसी भी सामीदार की ताक़त के घटने या बढ़ने से समझौता टूटने लगता है और नये सिरे से बँटवारे की ज़रूरत पड़ जाती है । हालत कुछ भी हो, हर पूँजीपति अपना ही स्वार्थ देखता रहता है । समझौता से संघर्ष की तीव्रता घट जाती है, उसका अन्त नहीं होता । रक्षा-कर, षड़यन्त्र, घूस ये जारी रहते हैं । सारी दुनिया पहले ही बँट जाने के कारण अब विस्तार उसी हालत में सम्भव है जब एक का हिस्सा दूसरा छीन ले । और इसके माने हैं लड़ाई ।

एकाधिकारी पूँजीवाद में उपनिवेशों के लिये लड़ाई,
युद्ध की अवश्यम्भाविता उपनिवेशों की लूट और देश में
 मज़दूर श्रेणी को दवाने की आवश्य-
कता इन कारणों से पूँजीवादी राष्ट्र अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित रहता
है। साम्राज्यवादी लड़ाई पूँजीपतियों की आपसी प्रतिस्पर्धा का
ही एक भीषण रूप है और जैसे पूँजीवादी प्रथा की कल्पना
बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति और सम्पत्ति जनित स्वार्थ के संघात के नहीं
की जा सकती है वैसे ही फ्राईनैस पूँजी की कल्पना बिना युद्ध के
नहीं की जा सकती।

चौदहवाँ अध्याय फ्रासिज़्म

साम्राज्यवाद, लेनिन के शब्दों में, पूँजीवाद की सर्वोच्च अवस्था है। इसके अनन्तर, बल्कि इसके साथ ही साथ पूँजीवाद की अवनति आरम्भ हो जाती है। पूँजीवाद का यह अवनतिकाल ही फ्रासिज़्म है। पूँजीवाद की उन्नति सब देशों में बराबर-रूप से नहीं होती। साम्राज्यवाद में भी सब देशों की स्थिति बराबर नहीं होती। किसी के पास उपनिवेश होते हैं तो किसी के पास नहीं। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि स्थिर पूँजी की वृद्धि के साथ मुनाफे का दर घटता रहता है। इस दर को घटने न देने के दो ही उपाय हैं—एक तो उपनिवेशों का अधिकाधिक शोषण और दूसरा मज़दूरी के दर को घटाना।

१९२६-३० के पूँजीवाद के भीषण संकटकाल में जर्मनी

के पास पहले उपाय के प्रयोग का कोई ज़रिया नहीं था। इसलिए उसको दूसरे उपाय का अवलम्बन करना पड़ा। लेकिन यह करना इतना आसान नहीं था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में, मज़दूरों की रिज़र्व सेना के कारण मज़दूरी मनमानी घटायी जा सकती थी लेकिन अब मज़दूर-संघ इतने शक्तिशाली हो गए थे कि वे बेकार मज़दूरों के बेकार रहते हुए भी मज़दूरी को घटने नहीं देते थे। बेकार बेकार ही रहते हैं लेकिन जो मज़दूर काम पर लगे रहते हैं उनकी मज़दूरी घटने नहीं पाती है। इसलिए पूँजीपतियों को इन मज़दूर-संघों को दबाने की आवश्यकता पड़ी। हिटलर ने पूँजीपतियों के इस उद्देश्य में हाथ बटाया।

स्टिन्स, किर्डर्फ, थिसेन आदि बड़े-बड़े उद्योगियों के सहारे ही हिटलर फ़ासिस्ट राष्ट्र कायम करने में समर्थ हुआ था और शक्ति प्राप्त करने के बाद उसने पूँजीपतियों की मित्रता खूब निभायी। जनवरी १९३४ के एक फ़र्मान से मिलमालिक 'नेता' बनाया गया और फ़ैक्टरी के मज़दूरों को बाध्य होकर उसका अनुयायी बनना पड़ा। अब स्वयं नेता को ही निम्नलिखित विषयों पर फ़र्मान निकालने का अधिकार मिला:—

(१) मज़दूरी के दिन के आरम्भ अन्त के समय का निर्णय।

(२) मज़दूरी चुकाने का तरीक़ा और समय का निर्णय।

(३) ठेका और खुचरे काम के आधार का निर्णय।

(४) जुर्माने की क़िस्म, रक़म और अदायगी के तरीक़े का निर्णय। तथा

(५) उन आधारों का निर्णय जिनके बिना पर बिना नोटिस दिये हुए मज़दूरों को निकाला जा सकता है।

दूसरे शब्दों में श्रम की शर्तें, काम के घण्टे, खुचरे काम का दर सभी मिल मालिक की इच्छा पर निर्भर है। यह सच है

कि तथाकथित “मज़दूरों के ट्रस्टी” के पास मज़दूरअपील कर सकता है लेकिन यह नाम मात्र का अधिकार है क्योंकि अधिकांश ट्रस्टी या तो पूँजीपति या उनके प्रतिनिधि थे (जैसे ब्रैन्डेन बर्ग का ट्रस्टी जो पहले राइनलैंड में लोहा गलाने के कारखानों का मैनेजर था)।

नात्सी शासन में जर्मन एकाधिकारी पूँजी को क्या लाभ हुआ यह १९३३ में हिटलर के हाथ में शासन की बागडोर आ जाने के बाद के मज़दूरी और मुनाफ़े के आँकड़े बतलाते हैं। संकटकाल में मज़दूरियाँ वैसे ही घट गई थीं, १९३३ में यह और भी घटा दी गई और तब से अब तक मज़दूरियाँ बढ़ी नहीं यद्यपि कुछ दिनों में बेकारों की संख्या बहुत घट गई। और चूँकि जीवनधारण की सामग्रियों का मूल्य १९३८ में क़रीब पाँचवाँ हिस्सा बढ़ चुका था, इसलिए वास्तविक मज़दूरी और भी घट गई। इधर काम के घण्टे और बढ़ गये। विशेषकर हथियारों के कारखानों में जहाँ मज़दूर साधारणतया दफ़्ते में ६० घण्टे काम करते थे। लेकिन शेयर होल्डरों के डिवीडेन्ड दुगुने हो गये। सरकारी आँकड़ों की बुनियाद पर जे, कुज़ीन्स्की के गण-नानुसार १९३२-३७ के बीच सारे मज़दूरों और तनख्वाह पानेवाले नौकरों की कुल आमदनी केवल २४ फ़ीसदी बढ़ी थी। जबकि बढ़ी तनख्वाह पानेवालों तथा मिलमालिकों की कुल आमदनी १४८ फ़ीसदी बढ़ी।

बहुत लोगों का विश्वास है कि नात्सी राष्ट्र ने मज़दूर और मिलमालिक दोनों को नियन्त्रण में रक्खा। लेकिन यह भूल है। राष्ट्र-नियन्त्रित उद्योगों को जिस प्रकार व्यक्तिगत पूँजीपतियों के हाथों सौंपा गया वही जर्मन फ़िनान्स-पूँजी और नात्सी राष्ट्र के सम्बन्ध के सच्चे स्वरूप को प्रगट करता है।

प्रजातन्त्र-शासन काल में कोयले की खानों तथा जहाज़

बनाने के कारखानों के अधिकांश शेयर राष्ट्र के हाथ में थे । संकट काल में दिवालियेपन से बचाने के लिये भी बहुत से कारखाने राष्ट्र ने अपने हाथ में ले लिए थे । इस प्रकार तीन बड़े-बड़े बक भी राष्ट्र के हाथ में थे लेकिन १९३६ तक ये सबके सब पूँजीपतियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति बन गए । इसी तरह १९३२ में सरकार ने, स्टोल ट्रस्ट जो दिवालिया हो रही थी, के अधिकांश शेयरों को तिगुने दाम पर खरीद लिया था । लेकिन १९३६ में स्टोल ट्रस्ट को उसकी पुनः लौटा दी गई । जहाज़ों के कारखानों की भी यही कहानी है । इसी तरह उत्तरी साइलीशिया के लोहा गलाने के कारखानों के राष्ट्र के शेयर क्रुप्स् के हवाले कर दिये गये । एकमात्र गेरिंग के विशाट् कारखाने के अधिकांश शेयर सरकार की सम्पत्ति थी लेकिन वह इसलिए कि जिस लोहे का यहाँ इस्तेमाल किया जाता था वह बहुत खराब क्रिस्म का था और हर प्रदेश के स्टोल सम्राट् यह समझते थे कि इससे उनको अधिक मुनाफ़ा नहीं मिल सकता ।’

मज़दूरी का मसला हल करने के बाद नात्सी सरकार का ध्यान गया उपनिवेशों की ओर । पूँजीवादी व्यवस्था को समूल विनाश से रोकने का यही दूसरा उपाय था । न केवल यूरोप के बाहर के देशों के बल्कि सारे यूरोप को ही उन्होंने एक बहुत बड़ा उपनिवेश बनाना चाहा । एक विश्वव्यापी समर पर ही इसकी सफलता निर्भर थी और इसका परिणाम हुआ सामरिक अर्थ-नीति जिसका मूलमन्त्र गेरिंग के शब्दों में है—‘मक्खन नहीं, अधिक बन्दूक’ । युद्ध के समय बाहर से चीज़ें नहीं मिल सकती । इसलिए इस नीति का यह भी अर्थ हुआ कि ऐसी चीज़ें देश में ही पैदा की जायँ चाहे इससे आर्थिक नुक़सान भले ही हो । इससे मज़दूरों और साधारण जनता को क्या हानि पहुँची, वर्तमान जर्मनी ही इसका साक्षी है ।

